ISSN-2250-2335

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

गंगाप्रसाद विमल की रचनाधर्मिता पर एकाग्र

25

वर्ष - 13 ■ अंक - 25 ■ *जुलाई-दिसंबर* - 2020 ■पूर्णांक 63 ■ मूल्य ५० रुपए

■ प्रधान संपादक - **देवेश ठाकुर** ■ संपादक - **डॉ. सतीश पांडेय**

देवेश ठाकुर रचनावली

(16 खंडों में)

(द्वितीय संस्करण)

मूल्य : 16,500/-

नमन प्रकाशन
4231/1, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

ISSN-2250-2335 Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

प्रबंध संपादिका :
डॉ. रोहिणी शिवबालन

प्रधान संपादक-प्रकाशक :
डॉ. देवेश ठाकुर

संपादक :
डॉ. सतीश पांडेय

संयुक्त संपादक :
डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

डिजिटल संपादक :
डॉ. मनीष कुमार मिश्रा

संपादकीय-संपर्क :
बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (पश्चिम), मुंबई-400 084
टेलिफोन : 25161446
Email : sameecheen@gmail.com
website-www.http// : sameecheen.com

विशेष :
'समीचीन' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

परीक्षक विद्वत मंडल : (Peer Review Team)

1) प्रोफेसर ताकेशी फुजिई, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, टोक्यो यूनिवर्सिटी फॉर फॉरेन स्टडीज, टोक्यो ।
2) प्रो. (डॉ.) देवेन्द्र चौबे
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।
3) प्रो. (डॉ.) वशिष्ठ अनूप
हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उत्तर प्रदेश)
4) प्रो. (डॉ.) सदानंद भोसले, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सवित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ, पुणे।
5) प्रो. (डॉ.) करुणाशंकर उपाध्याय, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई।
6) डॉ. नरेन्द्र मिश्र, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास, विश्वविद्यालय, जोधपुर।
7) डॉ. अनिल सिंह, अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन मंडल, मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई।
8) प्रो. (डॉ.) शेशचंद्र चुलकीमठ, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़।
9) डॉ. अरुणा दुबलिश, पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मेरठ (उ.प्र.)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : देवेश ठाकुर ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.), मुंबई-400086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

■ प्रधान संपादक - देवेश ठाकुर ■ संपादक - डॉ. सतीश पांडेय

वर्ष - 13 ■ अंक - 25 ■ *जुलाई-दिसंबर* - 2020 ■ पूर्णांक 63 ■ मूल्य ५० रुपए

सहयोग : एक प्रति रु. 50/-, वार्षिक रु. 100/-, पंच वार्षिक रु. 500/-, आजीवन सदस्यता रु. 5000/-

इस अंक में	पृष्ठ
अपने तईं	05
परिचय - डॉ गंगाप्रसाद विमल	07
डॉ गंगाप्रसाद विमल की पावन स्मृति में : प्रो. अजीत कुमार वर्मा	10
मधुर मेधा का त्रासद अवसान : डॉ. गंगाप्रसाद विमल : भूमिका द्विवेदी अश्क	11
गंगाप्रसाद विमल से एक बातचीत : मुन्नी गुप्ता और अनिल पुष्कर	16
कवि, कविता और विमल जी बरास्ते 'इतना कुछ' : डॉ. ऋषिकेश मिश्र	30
'विजप' और 'अलिखित-अदिखत' के बहाने गंगा प्रसाद विमल : डॉ. सतीश पांडेय	43
सन्नाटे के साए में संवाद करती कविताएँ 'सन्नाटे से मुठभेड़ : डॉ. उषा मिश्रा	57
विमल की सहजानुभूति : 'मैं वहाँ हूँ' : डॉ. सत्यवती चौबे	64
पाँच तत्वों की यात्रा पाँच इंद्रियों तक : डॉ. सुधा उपाध्याय	77
सन्नाटे से मुठभेड़ में शब्द-चयन का भाषा वैज्ञानिक आधार : डॉ. ममता पंत	86
गंगा प्रसाद विमल : जड़ों से जुड़ाव का रेखांकन : प्रवीण चंद्र बिष्ट	94
गंगाप्रसाद विमल की कविताओं में नगरीय मोहभंग : शोभा जोशी	102
गंगाप्रसाद विमल : दुनियावी रहस्यों के दानिशमंद किस्सागो : डॉ. अनिल पुष्कर	105
आम जीवन के कथाकार -डॉ. गंगा प्रसाद विमल : डॉ. गौरी त्रिपाठी	117
गंगा प्रसाद विमल के साहित्य में हाशिए के लोग : डॉ. जयप्रकाश कर्दम	122
वर्तमान संदर्भ में गंगा प्रसाद विमल जी की कहानी 'आत्महत्या' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण : डॉ. कोयल विश्वास	129
मानुषखोर प्रतीकों, परंपराओं और सांस्कृतिक हलचल का जीवंत दस्तावेज : नवीन चन्द्र लोहनी	135
वही का वही मानुषखोर... !! : डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी	140
उजाले के सच से सचेत करता उपन्यास : मरीचिका : श्यामसुंदर पाण्डेय	144
मृगांतक / टाइगर तंत्रा : पशुता और मनुष्यता के बीच की छटपटाहट : डॉ. मनीष कुमार मिश्रा	150

अपने तईं

जनतांत्रिक व्यवस्था का चौथा आधार स्तंभ मानी जाने वाली मीडिया अपने स्वरूप और चरित्र में आए बदलावों के कारण आज कई तरह के सवालों के घेरे में है। इस पर प्रश्न चिन्ह तो तभी से लगने लगे थे, जब इसने पूँजी और सत्ता के साथ गठजोड़ कर लिया था। अब इस पर बाजार का दबाव भी बढ़ गया है। ऐसे में वैकल्पिक पत्रकारिता के रूप में सोशल मीडिया की ओर ध्यान जाता है। अपने विशाल नेटवर्क द्वारा दुनिया भर को जोड़ने की इसकी शक्ति के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता। वस्तुतः यह एक अपरंपरागत मीडिया ही है, लेकिन इसका न तो कोई व्यवस्थित पत्रकारिता वाला नेटवर्क होता है और न ही कोई प्रकाशक-संपादक। किसी का कोई दबाव नहीं। समाज का हर व्यक्ति इसके माध्यम से अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए स्वतंत्र। कोरोना महामारी के समय जिस तरह सोशल मीडिया के सहयोग से मानवीय आधार पर संकटग्रस्त मानवता के लिए लोगों ने प्रयास किया, उससे इसकी सकारात्मक गतिविधियों में महती संभावना स्वतः सिद्ध हो जाती है लेकिन इसके उपयोग की यही स्वतंत्रता इसकी कमजोरी भी बन जाती है। इस पर किसी का नियंत्रण न होने के कारण नकारात्मक और विध्वंसक शक्तियों द्वारा इसका दुरुपयोग अधिक होने लगा है।

इस संदर्भ में अहम बात यह है कि सोशल मीडिया भी वैचारिक रूप से विभाजित दिखाई देती है। यह विभाजन धर्म-जाति के आधार पर ही नहीं बल्कि राजनीतिक दलों और उनके शीर्ष नेताओं के समर्थकों-प्रशंसकों के आधार पर भी हुआ है। हमारे नेताओं के अलग-अलग प्रशंसक हैं, जो अपने विरोधी पक्ष के नेताओं के अवगुण अधिक गिनाते हैं। मानव स्वभाव है कि नकारात्मक बातें लोगों को जल्दी प्रभावित करती हैं। इसीलिए इनके अपने-अपने समर्थक और विरोधी ऐसी कटु और कई बार तथ्यहीन बातें इतने विश्वास के साथ सोशल मीडिया पर प्रस्तुत करते हैं कि सामाजिक विद्वेष, परस्पर घृणा एवं कटुता का भाव पनपने लगता है। इन प्रशंसकों द्वारा कई बार कृत्रिम चित्र भी निर्मित कर सोशल मीडिया पर डाले जाते हैं, जिससे वे न सिर्फ भ्रम पैदा करते हैं बल्कि सांप्रदायिक दंगे तक करा देते हैं। कई बार तोड़-मरोड़ कर ऐसे विचार भी प्रकट किए जाते हैं, जो हिंसा और दंगों के लिए उकसाने का काम करते हैं। इन बातों के मूल स्रोत का पता नहीं होता। अधिकतर ये घटनाएँ छद्म नाम से की जाती हैं, जिससे सीधे-सीधे किसी को जिम्मेदार न ठहराया जाए। आतंकवादी संगठनों द्वारा भी सोशल मीडिया के माध्यम से जहर फैलाया जाता है। हाल ही में घटित यूरोपीय देशों की घटनाएँ गवाह हैं कि फ्रांस की घटना की प्रतिक्रिया भारत ही नहीं विश्व भर में प्रदर्शन करने के लिए लोगों उकसा सकती है।

धार्मिक भावनाओं को भड़काने वाले ये लोग यह भूल जाते हैं कि आग का मूल धर्म जलाना है। वह धर्म या जाति के आधार पर किसी पर भी मेहरबान नहीं होती। जो भी चपेट में आया, उसे भस्म कर देती है। धार्मिक दंगे की आग भी दोनों पक्षों को जलाती है। इसीलिए धर्मनिरपेक्ष एवं प्रगतिशील लोगों से इस सोशल मीडिया पर सक्रिय होने की अधिकअपेक्षा की जाती है लेकिन वहाँ भी एक समस्या है। धर्मनिरपेक्ष ताकतों को भी जब किसी एक वर्ग की कमी दिखाई देने लगती है और दूसरे धर्म या जाति की कमियों को वे नजरंदाज करने लगते हैं तो उनकी मंशा पर भी संदेह होने लगता है। उन्हें अपने समय के सबसे बड़े धर्मनिरपेक्ष कबीर को याद करना चाहिए जो सीधे-सीधे घोषित करते थे कि 'अरे इन दोउन राह न पाई।' दोनों की बात निष्पक्ष भाव से करना ही पड़ेगा। दोनों को उनकी शक्ति और कमजोरी का समान भाव से एहसास कराना होगा। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे तब तक हमारी बातों में न तो कबीर की तरह सीधे-सीधे कहने का साहस आएगा और न ही उसका प्रभाव ही पड़ेगा। इतना ही नहीं, हम अपनी बात मनवाने के लिए 'दरेरा देने वाली भाषा' का प्रयोग भी नहीं कर सकेंगे। अतः बहुत जरूरी है कि सोशल मीडिया पर सस्ती लोकप्रियता पाने के छद्म से बचें। उसका सही दिशा में उपयोग कर समाज को बँटने से रोकें। सोशल मीडिया पर 'अरे इन दोउन राह न पाई' कहना हम कब सीखेंगे, यह प्रश्न बरकरार है।

समीचीन के इस विशेषांक में प्रसिद्ध कवि-कथाकार गंगाप्रसाद विमल के साहित्यिक अवदान का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। हिंदी समीक्षा की विडंबना ही है कि गंगाप्रसाद विमल को एक बार अकविता और अकहानी आंदोलन से जुड़ा मान लिया गया तो उनके परवर्ती रचना-संसार पर लोगों का ध्यान कम ही गया। परिणाम स्वरूप उन्हें जाने- अनजाने हाशिए पर डालने का ही प्रयास होता रहा। समीचीन के पिछले कुछ अंकों में ऐसे ही हाशिए पर डाल दिए गए रचनाकारों का सही मूल्यांकन करने का प्रयास होता रहा है। अब यह अंक आपके सामने है। इसके लिए जिन रचनाकार साथियों ने हमारे अनुरोध को स्वीकार कर अपना अमूल्य योगदान दिया, उन सब के प्रति हम आभारी हैं। इस बीच समीचीन का अपना वेब साइट- samacheen.com भी तैयार हो गया है। आप इस पर अवश्य जाएँ और अपनी प्रतिक्रिया दें। समीचीन को यूजीसी केयर लिस्ट में भी शामिल कर लिया गया है, यह हमारे लिए हर्ष की बात है किन्तु इससे गुणवत्ता बरकरार रखने की जिम्मेदारी भी बढ़ गई है। इसके लिए हमारी पियर रिव्यू टीम का सहयोग और मार्गदर्शन हमारे लिए महत्वपूर्ण होगा। आशा है, आप सबका सहयोग पूर्ववत हमें प्राप्त होता रहेगा। कोरोना के कारण यह अंक आने में थोड़ा विलंब हुआ और अब दीप-पर्व आ गया है। समीचीन परिवार की तरफ से सभी पाठकों एवं रचनाकार साथियों को दीपावली की हार्दिक शुभकामनाएँ। अस्तु।

- सतीश पांडेय

गंगाप्रसाद विमल

डॉ. गंगाप्रसाद विमल का जन्म भारतवर्ष के बेहद खूबसूरत क्षेत्र हिमालय के एक छोटे से कस्बे उत्तरकाशी, उत्तरांचल में 03 जून 1939 को हुआ था। इनके व्यक्तित्व में हिमालय की-सी सादगी, ऊँचाई, विस्तार और निर्मलता धारण करने का जज्बा तथा निर्झर-सा निरंतर बहते रहने की दिली तमन्ना इनकी विशिष्टता का प्रतीक बन चुका था। हिमालय की अनूठी सामाजिक संस्कृति, परंपरा तथा सनातनता को बनाये रखने का संस्कार इनकी विशिष्ट जीवनशैली में प्रवहमान था। हिमनदों की तासीर और निश्छलता इनकी प्रकृति बन चुकी थी। यही वजह है कि इनकी तमाम रचनाओं में हिमनदों को बचाने और वनों की कटाई पर रोक लगाने पर जोर दिया गया है। मानो, इन्हें बचाये रखना इनके व्यक्तित्व को बचाये रखना है। इस कोशिश में वे निरंतर वक़्त-बेवक़्त प्रयत्नशील रहते रहे।

इनकी शिक्षा गढ़वाल, हृषिकेश, इलाहाबाद, यमुनानगर एवं पंजाब विश्वविद्यालय जैसी अनेक जगहों पर हुई। इसी दौरान इन्होंने 'देशसेवा' साप्ताहिक पत्र का संपादन भी किया। जीवन के आरंभिक दौर से ही प्रतिभाशाली और रचनात्मक होने के कारण इनके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास तमाम साहित्यिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों में हुआ। 1963 में ही इन्होंने 'समर स्कूल ऑफ लिंगुइस्टिक्स', उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में अध्यापन आरंभ किया। साथ ही कुछ समय तक स्वतंत्र पत्रकारिता करने के उपरांत इन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से संबद्ध जाकिर हुसैन कॉलेज में 25 वर्षों तक कार्य किया। तत्पश्चात 1989 से 1997 तक मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अंतर्गत केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (शिक्षा विभाग) में निदेशक के पद पर कार्यरत रहे। 1999 से लेकर 2004 तक भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में अध्यापन किया तथा यहीं पर 1999 से 2000 तक बतौर विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया।

इसके अतिरिक्त इन्होंने तमाम शब्दकोशों से संबंधित योजनाओं, भाषा-ज्ञान संबंधी सामग्री तथा भारतीय भाषा संबंधी नीतियों को जारी करने वाली सरकारी संस्थाओं एवं समितियों में कार्य किया। विमल जी समय-समय पर कई समितियों, संस्थाओं के सलाहकार एवं कई पत्रिकाओं में संपादकीय योगदान देते रहे।

सन 1965 में इन्हें डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की डिग्री से सम्मानित किया गया। इसी वर्ष इनका विवाह 5 फरवरी, 1965 को कमलेश अनामिका के साथ संपन्न हुआ, जिनसे इनकी दो सन्तानें आशीष (1969) और कनुप्रिया (1975) हुईं।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल हिन्दी साहित्य में अकहानी आंदोलन के जनक के रूप में जाने जाते हैं। इसके अलावा अकविता आंदोलन के प्रमुख कवियों में से एक विख्यात कवि, उपन्यासकार और अनुवादक के रूप में दुनिया भर में इन्हें ख्याति प्राप्त है। इनके द्वारा तमाम देशों में विभिन्न विषयों पर शोध-पत्र पढ़े गये। जिनमें मुख्यतः बी. बी. सी लंदन से कहानियों का पाठ और ऑल इण्डिया रेडियो से तमाम बार कविता-पाठ आदि शामिल हैं। कई सरकारी सेवाओं से जुड़े बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न विमल जी का व्यक्तित्व विशाल रहा है। इन्हें तमाम राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से भी सम्मानित किया गया। इनके व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि इतनी सारी विशिष्टताएँ होने के बावजूद इनमें किसी भी तरह का दंभ, अहं या सर्वश्रेष्ठ होने का अभिमान कहीं नहीं झलकता। इनका बेहद रूमानी और संजीदगी से भरा चरित्र एवं व्यक्तित्व एकदम सहज और मिलनसार प्रवृत्ति का रहा है। सदैव लोगों के साथ मृदुभाषी होने के कारण ही तमाम देशों में इनको सराहा व सम्मानित किया जाता रहा है।

रचनाएँ : कविता संग्रहः विजप (1967), बोधि बृक्ष (1983), इतना कुछ (1990), तलिस्मान (काव्य एवं कथा) (1990), सन्नाटे से मुठभेड़ (1994), मैं वहाँ हूँ (1996), अलिखित-अदिखत (2004), कुछ तो है (2006), खबरें और अन्य कविताएँ (2010), पचास कविताएँ (2015)

कहानी संग्रहः कोई शुरूआत (1972), अतीत में कुछ (1973), इधर उधर (1980), बाहर न भीतर (1981), चर्चित कहानियाँ (1983), मेरी कहानियाँ (1983), खोई हुई थाती (1994), समग्र कहानियाँ (2004), इक्कीस कहानियाँ (2010), मैं भी आऊँगा (2015)

उपन्यासः अपने से अलग (1969), कहीं कुछ और (1971), मरीचिका (1978), मृगांतक (1978)

मानुषखोर (2013) टाइगर तंत्रा (मृगान्तक का अंग्रेजी अनुवाद)

नाटक : आज नहीं कल

समीक्षा-आलोचना : समकालीन कहानी का रचना विधान (1968), प्रेम चंद (1968), आधुनिक साहित्य के संदर्भ में (1978).

संपादित पुस्तकें: अभिव्यक्ति (1964), अज्ञेय का रचना संसार (1966), मुक्तिबोध का रचना संसार (1966), लावा (1974), आधुनिक हिंदी कहानी (1978), क्रांतिकारी समूहगान (1979), नागरी लिपि की वैज्ञानिकता (नागरी लिपि परिषद नई दिल्ली), वाक्य विचार (2002).

अंग्रेजी अनुवाद: हेयर एण्ड देयर एण्ड अदर स्टोरीज (1978), मिरेज (उपन्यास) 1983, तलिस्माँ (काव्य संग्रह) 1987, हू लीव्स व्हेयर एण्ड अदर पोएम्स (2004).

अन्य भाषाओं से अनुवाद: दूरंत यात्रायें (एलिजाबेथ बाग्र्याना) (1978), पितृ भूमिस्च (हस्तो वोतेव) (1978), दव के तले (ईवान वाजोव का उपन्यास) (1978), प्रसांतक (विसिलिसी वित्सातिस की कविताएँ) (1979), हरा तोता (मिको ताकेयामा का उपन्यास) (1979), जन्म भूमि तथा अन्य कविताएँ (एन. वाप्तसरोव की कविताएँ) (1979), ल्यूबोमीर की कविताएँ (1982), लाचेजार एलेनकोव की कविताएँ (1983), उद्गम (कामेन काल्चेव का उपन्यास) (1981), बोजीदोर बोझिलोव की कविताएँ (1984), स्टोरी ऑफ योदान योवज्कोव (1984), पोएम्स ऑफ योदान मिलेव (1995), तमामरात आग (1996), मार्ग (पोएम्स ऑफ जर्मन दूगन ब्रूड्स) (2004).

लेख: तमाम पत्र - पत्रिकाओं में सैकड़ों लेख प्रकाशित.

सम्मान एवं पुरस्कार: डॉ. विमल को साहित्य और संस्कृति के लिये किये गये कार्यों पर तमाम राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित गया -

पोएट्री पीपुल्स प्राइज (1978), रोम में आर्ट यूनीवर्सिटी द्वारा 1979 में पुरस्कृत, नेशनल म्यूज़ियम ऑफ लिटरेचर, सोफि या में गोल्ड मेडल (1979), बिहार सरकार द्वारा दिनकर पुरस्कार (1987), इंटरनेशनल ओपेन स्कॉटिश पोएट्री प्राईज (1988), भारतीय भाषा पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद (1992), महात्मा गांधी सम्मान, उत्तर प्रदेश, (2016)।

निधन : साहित्यकार गंगाप्रसाद विमल तथा उनके दो परिजनों- उनकी पुत्री कनुप्रिया और नाती श्रेयस का दक्षिण श्रीलंका में दि. 23 दिसंबर 2019 को एक सड़क दुर्घटना में निधन हो गया। 80 वर्षीय विमल जी परिवार के साथ श्रीलंका की निजी यात्रा पर गये थे।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल की पावन स्मृति में

प्रो. अजीत कुमार वर्मा

उत्तरकाशी की अल्हड़-सी
पगडंडी की
लोच भरी अँगड़ाई तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी
गूँज निनादी तुम !
तुम को खोकर हुई भिखारिन
मन की वादी मीत,
सूनी आँखों तुम्हें ढूँढता
लुटा-पिटा यह गीत
एक अकेले कितनों के थे
सच्चे संबल तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी
गूँज निनादी तुम !
गंगा-सा पावन तेरा मन
मधुछंदों का बंध, / सब में रच देता था सत्वर
ललित नेह अनुबंध
एक गीत की सौ-सौ मचलन
एक अकेले तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी --
गूँज निनादी तुम !
प्रखर ज्ञान भी तुममें बोले
रस-गीले-से बोल,
सुस्मित आनन देता मन में --
स्निग्ध चाँदनी घोल,
वाणी की मधुपगी हँसी की --
चंचल उच्छलन तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी
गूँज निनादी तुम ! / चाहे तम सघन हो घेरे
मन में भर दे धुंध अछोर,
त्वरित वहीं हँसते उगते तुम
बन आशा की अरुणिल भोर,
ज्योति विहग-से सपने न्यारे
रच देते आँखों में तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी
गूँज निनादी तुम !
तुम्हें आँकने खींची कितनी
रेखाएँ सौ बार / सब-की-सब नाकाफी, बेबस,
थक बैठीं लाचार, / कितने रंग-सुगंध समोए
हँसते उपवन तुम ! / एक पहाड़ी धुन की मीठी,
गूँज निनादी तुम ! / मानस-सर के विमल हंस तुम
शिवता के कैलासी गीत,
नाद-निलय में गुन्-गुन् गुंजित
कल-नादी अनुपम संगीत !
कैसे बाँधूं तुम्हें न जानूँ
बस इतना बताला दो तुम !
एक पहाड़ी धुन की मीठी,
गूँज निनादी तुम ! / उत्तरकाशी की अल्हड़-सी
पगडंडी की --
लोच-भरी अँगड़ाई तुम !

पता - लक्ष्मी सागर, दरभंगा -846009

मधुर मेधा का त्रासद अवसान : डॉ. गंगाप्रसाद विमल

- भूमिका द्विवेदी अश्क

'चश्म-ए-मुश्ताक की खामोश तमन्नाओं को,
यक-ब-यक माइल-ए-गुफ़्तार न कर देना था.
दिल को अहसास से दो चार न कर देना था,
साज़-ए-ख़्वाबीदा को बेदार न कर देना था..'

फैज अहमद फैज

परिचितों, परिजनों और मित्रों की अब तक की सुनी-सुनाई मौतों में सबसे त्रासद मृत्यु श्री गंगा प्रसाद विमल जी की रही, जो तीन पीढ़ियों को एक साथ दुनिया से उठा ले गई। 23 दिसंबर 2019 को श्रीलंका की निजी यात्रा में पुत्री (कनुप्रिया) और नाती (श्रेयस) समेत ये मर्मांतक हादसा गुजरा, जिसने जाते हुये साल 2019 को और भी कष्टप्रद बना दिया। जिसकी शुरूआत ही नामवर सर, कृष्णा सोबती जी, खय्याम साहब, अर्चना वर्मा जी, गिरीश करनाड सर, शेषन सर, जेठमलानी जी जैसे सुविज्ञों को काल कवलित कर गई थी। बेहद अफसोसनाक रहा कि मेरी इन सभी से कई आत्मीय मुलाकातें रहीं, और मुझे आँसुओं के साथ शब्दांजलि देनी पड़ी।

श्री गंगा प्रसाद विमल जी से मेरी कुछ ही लंबी भेंट रही है। एक, जहाँ वो स्मृतियों के यकायक उठे सैलाब के साथ बहुत कुछ बयान करना चाह रहे थे। लेकिन वो यादों के उमड़ते-घुमड़ते उस सैलाब को अपने भीतर ही जब्त किये मुझसे इतना ही कह सके, 'आपको असंख्य यादों का जखीरा सुनाना है.. फुर्सत से बैठते हैं यहीं आई.आई.सी. में.. मैं सदस्य हूँ यहाँ का, अक्सर आता हूँ.. आप मेरे लिये थोड़ा सा वक्त निकालिये कोई रोज...'

मैं मेजबान थी। मैंने औपचारिक 'जी जरूर...' कहकर विदा दी थी, उस बहुत मानसिक झंझावातों वाले और बाहर तेज बारिश में भीगते वक़्त को। ये एक दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण मौका था, नीलाभ अश्क जी की पहली बरसी (पुण्यतिथि) की स्मृति सभा का, जो 23 जुलाई 2017 की संझा को आई.आई. सी. लोधी रोड, नई दिल्ली में रखी गई थी। अपने कुछ प्रिय मित्रों की सूचना पर उन्हीं के साथ विमल जी उस सभा में आये थे, जबकि मुझे उनका पता/ठिकाना मालूम न होने के चलते मैं उन्हें निमंत्रण पत्र तक नहीं भेज सकी थी। उनके इस हौसला बढ़ाते आगमन से ही उनकी सरलता, सहजता, सहृदयता स्पष्ट दिखाई देती है और साथ ही 'तथाकथित साहित्यकारों' में अवश्यमेव मौजूद 'तथाकथित अहम' की शून्यता भी साफ परिलक्षित होती है। उस सभा में वो मेरे

बगल वाली पंक्ति में बड़ी भावुक मुद्रा में आदि से अंत तक बैठे रहे। एक-एक वक्ता और हलचल को सुनते-गुनते रहे। वहाँ पसरे हुये वीराने और बिखरे हुये दर्द को चुनते रहे।

'उस रोज जो उनको देखा है अब ख़्वाब का आलम लगता है।
उस रोज जो उनसे बात हुई वो बात भी थी अफ़साना क्या॥'

इब्ने इंशा।

'अकहानी आंदोलन' के वास्तविक जनक गंगा प्रसाद जी की सबसे बड़ी विशिष्टता उनका सादा-मिजाज, सौम्य-सरल हृदय और सहज भाषा-शैली ही है, जो उनके सर्वग्राह्य साहित्यिक कृतियों सहित उनके व्यक्तित्व में भी छलक-छलककर सामने आती है।

उत्तरकाशी, उत्तरांचल (तत्कालीन उत्तर प्रदेश) में 22 अप्रैल सन् 1931 को जन्मे श्री विमल जी विख्यात कवि, कथाकार, उपन्यासकार, अनुवादक के रूप में दुनिया भर में एक जाना-पहचाना नाम रहे हैं। विमल जी ने अपनी मैट्रिक तक की पढ़ाई अपने कस्बे उत्तर काशी से किया था, जो प्राकृतिक सुंदरता के धनी भारत के बेहद खूबसूरत क्षेत्र हिमालय में बसा एक छोटा सा कस्बा है।

उसके बाद वे साठ के दशक की शुरूआत (1961) में चंडीगढ़ में, जिसे पंजाब विश्वविद्यालय पुकारा जाता है, वहाँ की सर्वोच्च छात्रवृत्ति पाने वाले मेधावी विद्यार्थी बने। ये विश्वविद्यालय तब नया ही बना था। इसके नवनिर्मित छात्रावास 'आर्ट ब्लॉक वन' में रहने वाले विमल जी जब अपनी स्मृतियाँ साझा करते हुए बताते थे, 'वहाँ के नये-नवेले फर्नीचर, ताजा पेंट की खुशबुएँ मुझे लिखने की ऊर्जा देती थीं.. मेरी सहपाठिनी कमलेश जी (कालान्तर में पत्नी) से मेरे प्रेम की शुरूआत भी वहीं उसी हॉस्टल से हुई थी.. हमारे जूनियर बैच में आचार्य जी की तीन पुत्रियों (इंदूमति, भारती, मालती) में भारती द्विवेदी और शैलेन्द्र भी रहे, जो कालान्तर में मित्र बने..'

पंचाब विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग तब तक खासा समृद्ध हो गया था। जहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे वरिष्ठ अध्यक्ष थे, वहीं रमेश कुंतल, इन्द्रनाथ मदान जैसे ज्ञानी विभाग की शोभा बढ़ा रहे थे। अश्क साहब, पंत, इलाचन्द्र जोशी, नरेश मेहता, मोहन राकेश इत्यादि दिग्गज (और कुछ तेजतर्रार) लेखकों को प्रायः विशिष्ट सत्र में आमंत्रित किया जाता रहा। बाद में जब वे मेरे (श्वसुर) पिता अश्क जी की हवेली में उन्हें मिलने खास कर इलाहाबाद आये, तब अपने छात्र-जीवन के तमाम अनुभव सुनाते रहे, जिनमें उन्हें अश्क जी के प्रति अनुराग और स्वयं को मिलने वाली 250/- की छात्रवृत्ति का बहुधा जिक्र आया, जो उस जमाने की बड़ी राशि हुआ करती थी।

डॉ. विमल के व्यक्तित्व को जहाँ हिमालय की ऊँचाई, हिम जैसी धवल सादगी, निर्मलता मिली, वहीं उनके शैक्षणिक माहौल ने उन्हें मूलभूत इंसानियत को धारण करने का जज्बा नवाजा, जो उनके लेखकीय और प्रशासनिक अनुभवों को आजीवन समृद्ध करता रहा। ये खासियतें छोटी जगहों से दिल्ली आकर बसने वाले लोगों में अक्सर समाप्त प्राय देखी जाती हैं। इन्हें तमाम राष्ट्रीय

एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। लेकिन कई सरकारी सेवाओं से जुड़े रहकर, बहुमुखी प्रतिभा से संपन्न इनका व्यक्तित्व बेहद विशाल और अप्रभावित भी रहा है। डॉ. विमल के व्यक्तित्व की विशेषता यह थी कि इतनी सारी विशिष्टताएँ होने के बावजूद भी इनमें किसी भी तरह का दंभ, अहं या सर्वश्रेष्ठ होने का अभिमान कहीं नहीं झलकता. इनका बेहद संजीदगी से भरा चरित्र एवं व्यक्तित्व एकदम सहज और मिलनसार प्रवृत्ति, सदैव लोगों के साथ बहुत सरल आम मृदुभाषी रवैया होने के कारण ही तमाम देशों में इनको लगातार सराहा व सम्मानित किया गया।

प्रारंभिक उत्थान की बात की जाये तो विमल सर ने हैदराबाद के ओस्मानिया विश्वविद्यालय सहित यमुनानगर, पंजाब (चंडीगढ़) और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से भी शिक्षा प्राप्त की थी। वर्ष के लंबे अंतराल में मेरी और नीलाभ जी की शिक्षा का भी मूलस्थान इलाहाबाद विश्वविद्यालय रहा है। जहाँ नीलाभ जी ने महज चार वर्ष वहाँ गुजारे, मैंने कीमती आठ साल इलाहाबाद विश्वविद्यालय की छाया में बिताये। नीलाभ जी और डॉ विमल जी के जमाने में बी.ए. केवल दो सालों का होता था।

मुझे याद आता है, नीलाभ जी ने अपने और विमल जी की पहली मुलाकात से लेकर बी. बी. सी. लंदन की कविता पाठ समेत इलाहाबाद तक के उनके कई किस्से मुझे सुनाये थे। विमल जी की रुचि शुरू से ही रचनात्मक लेखन में रही जिसके कारण इन्होंने समय समय पर तमाम पुस्तकें रची, जिनमें एक दर्जन से अधिक कविता संग्रह और कहानी संग्रह, चार उपन्यास, अंग्रेजी में अनुवाद की पाँच पुस्तकें, गद्य में हिंदी अनुवाद की तीन पुस्तकें, लगभग आठ से दस संपादित पुस्तकें, अन्य भाषाओं से अनूदित पुस्तकों में तकरीबन पंद्रह किताबें, जिनमें काव्य, कथा और उपन्यास शामिल हैं। उनकी महत्वपूर्ण पुस्तकों में, 'अपने से अलग' (1969), 'कहीं कुछ और' (1971), 'खोई हुई थाती' (1993), 'सन्नाटे से मुठभेड़' (1994), 'मैं वहाँ हूँ' (1996) विशेष रहीं।

विमल जी द्वारा तमाम देशों में अनेकानेक शोध पत्र भी पढ़े गये। अनेकों सरकारी, गैर-सरकारी, देशी-विदेशी संस्थाओं एवं संस्थानों की सदस्यता-प्राप्त डॉ विमल कई महत्वपूर्ण सम्मानों से भी अलंकृत किये गये। जैसे,पोएट्री पीपुल्स प्राइज (1978), रोम में आर्ट यूनीवर्सिटी द्वारा 1979 में पुरस्कृत नेशनल म्यूज़ियम ऑफ लिटरेचर, सोफिया में गोल्ड मेडल (1979), बिहार सरकार द्वारा दिनकर पुरस्कार (1987), इंटरनेशनल ओपेन स्कॉटिश पोएट्री प्राईज (1988), भारतीय भाषा पुरस्कार, भारतीय भाषा परिषद (1992), महात्मा गांधी सम्मान, उत्तर प्रदेश, (1916) में इत्यादि समेत बहुत सारी देशी-विदेशी सदस्यताएँ और फेलोशिप्स।

विमल जी ने 1961 से 64 तक तीन वर्ष रिसर्च फेलो के रूप में पंजाब विश्वविद्यालय में कार्य किया। 1962/64 तक हिंदी भाषा और साहित्य में पंजाब विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहकर अध्ययन-अध्यापन किया। 1964 को वे दिल्ली आये।

यह वही साल था जब नीलाभ जी और गंगा प्रसाद विमल जी पहली मर्तबा एक दूसरे से

'परिमल कथा समारोह' में मिले थे। विमल छात्र-जीवन से अश्क साहब की लेखनी के मुरीद थे। अपने सामने साक्षात् अश्क के बेटे को देखकर विभोर हो रहे थे। नीलाभ आदतानुसार विमल जी से मित्रवत् मिले। बाहैसियत कवि, दोनों ने अपना-अपना परिचय दिया। विमल जी ने उसी वक्त अश्क साहब से दोबारा मिलने की इच्छा जताई। नीलाभ ने सहर्ष उन्हें इलाहाबाद आने का खुला निमंत्रण दिया था।

विमल जी इलाहाबाद आये भी। उनकी सादा-मिजाजी मेरे ससुराल पक्ष में सभी को बहुत पसंद आई। चाहे मेरी अतिरिक्त उदारमना सास श्रीमती कौशल्या जी हों, या नीलाभ जी की दिवंगता पूर्व पत्नी रहीं हों। जबकि विमल जी के कुछ अन्य मित्रगण जो सालों साल अश्क-हवेली में बतौर वीआईपी मेहमान जमे रहे, जिन (जालंधर के गरीब कस्बों में भुखमरी के शिकार) अन्यान्य लोगों को एक दिन नाश्ते में फ्रेंच ऑमलेट, मुसम्बी जूस, तो अगले दिन आलू के पराठे, ताजा मक्खन, दही, जैम, अचार, और उसके अगले दिन पूरी तरकारी, मीठी जलेबी और दोपहर भोजन में कीमा के पराठे चाहिए होता था। जिन सभी मनमाफिक व्यंजनों में वे 'महान भावी संपादक' कोई न कोई नुक्स अवश्यमेव निकाला करते थे। जिनकी मथुरा/काशी पर कलंक सरीखी अस्सी वर्षीया (भिखमंगी) पत्नी आज भी वृद्धावस्था को दरकिनार करके हर दूसरे दिन, हर तीसरे मंच, हर चौथे दरवाजे पर मेहमान बनने को लार टपका रही है, लालायित फिर रही हैं। सोशल-मीडिया और फोन पर अशालीन और असंयमित भाषा में खुद को आमंत्रित करने का कहकर, अपने 'दरिद्र-कुल' की निर्लज्ज प्रथा को यशस्वी भाव और पूरी बेहयायी से आगे बढ़ा रही है। वहीं विमल जी, 'जो बना होगा, मुझे वही पसंद आयेगा...' कहकर संतुलित नाश्ता/खाना लेते थे और हमेशा बने हुये खाने की भूरि भूरि प्रशंसा करते नहीं अघाते थे। विमल जी सन् 1964 से 89 तक जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में तमाम शोधार्थियों के शोध निर्देशक के तौर पर भी कार्यरत रहे।

इसी समय से 1993 तक मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली में केंद्रीय हिंदी निदेशालय (शिक्षा विभाग) में निर्देशक के पद पर रहे। इसके अतिरिक्त तमाम शब्दकोशों से संबंधित योजनाओं, भाषा ज्ञान संबंधी सामग्री तथा भारतीय भाषा संबंधी नीतियों को जारी करने वाली सरकारी संस्थाओं एवं समितियों में कार्य किया। 1999 से लेकर 2004 तक भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रवक्ता के पद पर अध्यापन किया तथा यहीं पर 99 से 2000 तक बतौर विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। साथ ही तमाम शोधार्थियों को दिशा-निर्देश देते रहे। दिल्ली ही विमल जी का स्थायी निवास बना। मेरी उनकी भेंट भी यहीं हुई।

दरअसल विमल जी बाहैसियत एक आईआईसी सदस्य प्रायः वहाँ की ऐनेक्सी, पुस्तकालय और पूरे परिसर में मिल जाया करते थे। मैंने अपने जवाहर लाल विश्वविद्यालय प्रवास के दौरान ही बगल के भवन में स्थित इंडिया हैबिटैंट सेंटर की सदस्यता ले रखी थी। नीलाभ जी के साथ आई.आई.सी. खाना खाने प्रायः जाना होता था। जिनमें नजदीकी मित्र देवी प्रसाद त्रिपाठी जी हमारे

साथी हुआ करते थे, जो कि घरेलू पारिवारिक सदस्य भी थे। कभी कभार इस बैठकी में कुछ और लोग भी जुड़ जाते थे, जैसे पंकज सिंह जी, इला त्रिपाठी जी, मधुकर उपाध्याय इत्यादि। ऐसे ही कई संक्षिप्त मेल-मुलाकातों में विमल जी कभी दूर कभी आसपास दिखते रहे, अभिवादन होता रहा, विदा ली जाती रही।

जिस तरह दर्दनाक हादसे में उन्होंने अपनी बेटी कनुप्रिया और अल्पवयस्क नवासे श्रेयस के साथ दुनिया से विदा लिया है, वो लोमहर्षक है। ऐसा तो कभी सोचा ही न था। आम जनमानस सहित साहित्यिक दुनिया के लिये अकल्पनीय था। इतना भीषण और हृदय विदारक मंजर बहुत कम सुनने में आता है।

'इंशाजी उठो अब कूच करो इस शहर में दिल को लगाना क्या।
वहशी को सुकूं से क्या मतलब जोगी का शहर में ठिकाना क्या॥
उसको भी जला दुखते हुए मन एक शोला लाल भभूका बन।
यूँ आँसू बन बह जाना क्या, यूँ माटी में मिल जाना क्या॥'

इब्ने इन्शा

ईश्वर उन्हें सद्गति दें, और क्या कहूँ। उन्हें मेरी भावभीनी अश्रुपूरित श्रद्धांजलि।

नई दिल्ली
9910172903
7082815956

गंगाप्रसाद विमल से एक बातचीत

मुन्नी गुप्ता और अनिल पुष्कर

प्रश्न : लोकधर्म बनाम कुलीन तंत्र के साहित्य और आलोचना पर आप क्या सोचते हैं ?

गंगाप्रसाद विमल : ये जो आधार है प्रश्न का वह यह है कि एक आभिजात्य के लिए है और दूसरा लोक के बहुवर्णी सौंदर्य पर बात की जाती रही है तो जो आभिजात्य वाला पक्ष है, वह बहुत प्राचीन काल से उसको लोग खारिज करते रहे हैं। इसलिए क्योंकि वह बहुत ही अल्पसंख्या को सम्बोधित करता है। अल्पसंख्या से ताल्लुक रखता है। परन्तु अगर दूसरी तरफ से देखा जाय तो मुख्य रूप से जो लेखक सम्बोधित होता है, वह व्यापक जन समाज को संबोधित होता है और व्यापक जन समाज हमारा है, वह लोक है और इसलिए लोक और जो सही प्रश्नों की खोज है, वह परस्पर एक-दूसरे से जुड़ी होती है। लोक को जब आप आदर्शवादी चश्मे से देखने लगते हैं, तब उसका आभिजात्यवादी स्वरूप सिद्ध होने लगता है। और जब लोक की जो लोकधर्मी पद्धति है उससे आँकते हैं तब आप उसमें बहुत सारी दूसरी चीजों को अस्वीकार करते हैं, जो हमारी परम्परा में भी होती हैं, हमारे दर्शन में भी होती है, हमारे जीवन के जितने भी सृजनात्मक पक्ष हैं, उन सब पर उसका असर होता है।

अब अगर लौट करके आते हैं किसी विशेष परिस्थिति को देखते हुए, किसी विशेष धारा को देखते हुए, किसी विशेष परम्परा को देखते हुए तो हम पाते हैं कि लोकधर्मी परम्पराएँ जो हैं, लोकधर्मी धारा जो है, लोकधर्मी जो स्वरूप है वह ज्यादा स्वीकार्य है और उससे चूँकि वो अपनी व्यापकता के कारण फैला होता है, उस व्यापकता में बहुत सारी दूसरी चीजें सम्मिलित होती हैं। हम उस व्यापकता में एक तरह से देख सकते हैं कि वह जो हमारा बाहुल्य का स्वरूप है, वह स्पष्ट हो जाता है उसमें। बहुलता के प्रति एक सरस आसक्ति झलकने लगती है और वह एकत्वकामी, एकल आसक्ति का प्रतीक नहीं रह जाता। उसे आप किसी भी विधान से जोड़ सकते हैं।

मुख्य रूप से यह है कि लोकधर्मी जो है, उसे सीमित अर्थों में जो लोकचर्या है, उससे नहीं बाँधना चाहिए। लोकधर्मी जो है उसे व्यापक स्तर पर समाज के जितने भी रस और सिद्धांत हैं, जो समाज को बनाते हैं, उनसे जुड़ा है।

प्रश्न : इसी में एक सवाल जुड़ रहा है कि रचनाकार हमेशा ही हाशिये पर ढकेला

जाता रहा है। वह जो लोकधर्मी रहा है और जो उभरे हैं वह सत्ताधीन चेहरों की नुमाइश में कुलीनता का नया रंग भरते रहे। कुलीनता का अपना धर्म, इतिहास, संस्कृति और संस्कार है जबकि लोकधर्म की अपनी सांस्कृतिकता और विविधता है। दोनों में इतने आक्रोश और टकराहट की वजह क्या है? एक सवाल, दूसरा है दोनों की राजनीति में कड़वाहट है, द्वेष है, आक्रोश है या फिर यही साहित्य का व्यापार रहा है। सृजन को ऐसे में कहाँ, कैसे और किधर देखा जाय?

गंगाप्रसाद विमल : मैं जब इन दोनों चीजों से टकराता हूँ, तो मुझे लगता है कि सबसे बड़ा जो कारक है, जिससे कोई चीज पुष्ट होती है, वह कारक है, एक प्रकार से वैविध्य का। उसमें बहुत सारी चीजें शामिल होती हैं, बहुत सारी। केवल भाषा को ही एक प्रारूप मान लिया जाय तो भाषा में भी बहुत सारी चीजें उपस्थित होती हैं। भाषा कोई अकेली चीज नहीं, जो अकेली ही निर्मिति होती हो, बड़ी संपूर्ण हो। बल्कि भाषा अपने को सम्प्रेष्य बनाने के लिए व्यापकता के क्रिया-व्यवहारों को अपने में लेती है और धीरे-धीरे उन क्रिया-व्यापारों से उनका पूरा क्षेत्र बढ़ता जाता है। अब अगर केवल शब्द-संरचना को ही ले लें हम तो शब्द-संरचना में जो वैविध्य है, वह अनेक प्रकार की प्रस्तुतियाँ दे देता है और उसे देखकर लगता है कि परिपूर्ण रूप से हम किसी एक चीज के बारे में कोई एक व्यवस्था दे सकते हैं।

अब जहाँ तक प्रश्न है कि जहाँ तक आभिजात्य और तथाकथित कुलीन ये जो मानक हैं, उन मानकों को स्वीकार कर लिया जाय, क्योंकि कुलीन जन उनका उपयोग कर रहे हैं, तो यहाँ पर द्वंद्व उपस्थित हो जाता है। उन कुलीन मानकों की स्वीकृति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि लोक आचरण में वह स्वीकार न कर लिया जाय। और लोक आचरण एक ऐसी पद्धति है या एक ऐसा रूप है जो बहुत गहराई से चीजों को देखने की दृष्टि देता है, तो मैं अपने ढंग से मानता हूँ कि कोई एक रचना यदि वह एक प्रयोगधर्मी रचना भी है तो उसकी प्रयोगधर्मिता में अगर उसकी भाषिक संरचना में बाहुल्य की क्षमता नहीं है, उसकी भाषिक संरचना में किसी एक पद के बहु अर्थ, बहु वर्ण, उपस्थित नहीं है तो वह व्यर्थ है, वह स्वीकार्य नहीं है। तो इसी अर्थ में जो तथाकथित सैद्धान्तिक विवेचना है, वह सैद्धान्तिक विवेचना एकार्थी हो जाती है। एक ही पक्ष देखने लगती है और जीवन जो है वह एकार्थी नहीं है। जीवन एकरेखीय नहीं है, वह बहुरेखीय है, बहुगुणी है, मतलब कि बहुत जटिल है और जटिलता जो है वो अपने आप में जो कि रोग नहीं है, बल्कि जटिलता जो है वह संग्रहण है, संगठन है, जो बहुत सारी चीजों को जोड़कर देखने की पद्धति विकसित करता है।

प्रश्न : सर, प्राचीन काल से लेकर अब तक कुलीनतंत्र का जो साहित्य है, उसमें दो चार

नाम ऐसे होंगे जो आभिजात्य साहित्य लिखते रहे होंगे और कुछ ऐसे भी होंगे जो लोकधर्मी साहित्य लिखते रहे होंगे। फिर मध्यकाल में भी जो लोकधर्मी और कुलीनतावादी लेखक रहे होंगे, और आधुनिक समय में भी, इन रचनाकारों के नाम लेकर भी अगर आप कुछ कहें तो....

गंगाप्रसाद विमल : ये द्वंद्व बराबर रहा है। इसलिए जो कुलीनता और इसका जो विवाद खड़ा हुआ है, लोकधर्मिता का यानी, यह विवाद प्राचीनकाल में उस तरह से नहीं है। प्राचीनकाल में एक आदर्श की सी स्थिति मान ली गई थी। उस आदर्श के इर्द-गिर्द ही मूल्य निर्धारित किये गए हैं। उन मूल्यों के अनुरूप अगर कोई चीज है तो उसे रचना मान लिया जाता था अन्यथा वह उस परकोटे में आती ही नहीं थी, पहुँच नहीं पाती थी। बहुत सीमित था। लेकिन जैसे प्राचीनकाल के लेखक जिसमें कालिदास हैं, कालिदास के यहाँ आपको क्या मिलेगा, कालिदास के यहाँ सामाजिक संरचना में जो तनाव है, जो द्वंद्व है, जो एक तरह से अंतः संघर्ष है, उन सारी चीजों का परिदर्शन हो जाता है। उसका भाषिक रूप जो है, वह अवश्य कई स्थलों पर लगता है कि बहुत ही अधिक ठोस और मानक है और तब लगता है कि यह किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं बल्कि कई संस्थाओं द्वारा रचा गया है और किसी एक व्यक्ति के नाम पर यह प्रख्यात हो गया है। उसमें उस समय के जो शास्त्राधार हैं, उनकी अनुरूपता उसमें है।

केवल यह सोच लिया जाय कि उस काल के जो कवि हैं, उन चरित्रों में जो महत्त्वपूर्ण चरित्र हैं, वह सारे या तो देवकोटि के हैं या उसी तरह के बना दिये गए हैं, तो उसे मानना चाहिए कि उस सामाजिक संरचना में औदार्य या उदात्तता के बड़े शीर्षस्थ शिखर रहे होंगे। उन शिखरों की ओर वे प्रयाण करते दिखाई देते हैं। लेकिन जब भवभूति आते हैं तो भवभूति एक नई धारा का प्रणयन करते हैं। यहाँ जो है वह एक दो बड़े कवियों में आपसी द्वंद्व है, और दो कालखण्ड अलग-अलग है। लेकिन नई धाराएँ जब इन्हीं टकराहटों से विकसित होती हैं तो इनके बहुत सारे रूप निर्मित हो जाते हैं। मोटे तौर पर जिनका आज हम पारिभाषिक रूप देखते हैं, उस पारिभाषिक रूप में हम यह देखते हैं कि जो सत्ताएँ हैं, वे सत्ताएँ अपने ढंग का एक परिवेश निर्मित करती हैं, उस परिवेश में नवरत्न हैं, और भी दूसरे लोग हैं और वह अपने उनके द्वारा जो रचित संसार होगा, वही सृष्टि का सर्वोत्तम मान लिया जाता था। लेकिन उस समय ऐसे कवि हुए हैं, जैसे अश्वघोष हैं, जिन्होंने उन मानकों को चुनौती दी है और मुख्य रूप से ये विवाद मध्यकाल से आरंभ हो जाता है और धीरे-धीरे पूर्ववर्ती जो मान्यताएं हैं, वह खण्डित होने लगती हैं। नई प्रतिमाओं का निर्माण होने लगता है। पुरानी प्रतिमाओं में जो देवत्व कोटि की प्रतिमाएँ हैं, उन प्रतिमाओं के स्वरूप अब कोई निर्मित नहीं कर रहा है, जो बनी हुई है, वह है।

लेकिन जो प्रमुख झगड़ा है,वह यह है कि दोनों का जो मूल्य संसार है, वो किस योग्य है? और जो अपौरुषेय समझे जाने वाले कथन हैं और उनमें जो सत्य का प्रतिस्थापन है, वह कुछ और ढंग का है और जो सामाजिक संरचना में और सामाजिक जीवन में सत्य असत्य की तुला जो है, वो अपने व्यापक रूप को प्राप्त कर लेती है। तो मुझे लगता है कि जिन प्रश्नों से आज हम जूझ रहे हैं, उस तरह की परिस्थितियाँ पहले नहीं थी। इसलिए राज्य, समाज व्यक्ति ये तीन जो बिंदु हैं ये उस समय किस तरह से निर्धारित थे कि जिस समय में आज हम रह रहे हैं, वहाँ तक आते-आते बहुत कुछ आमूल परिवर्तन हो जाता है। हम नए प्रश्नों से इस तरह जूझते हैं कि हमारे समय में जो अदृश्य संसार था, पात्रों का वह दृश्य संसार बन जाता है। खेतिहर मजदूर, गरीब लोग आदि-आदि की चिंताएँ आने लगती हैं। फिर जो नगरीय जीवन की कुंठा हैं , जो संत्रास है, जो बोध है, उन बोध क्षेत्रों में भी हम देखते हैं कि एक साधारण की स्थापना होने लगती है और ये जो साधारण की असाधारण उपस्थिति है, वह एक नए मूल्य विधान का सृजन करती है। तो कहना पड़ेगा कि एक तरह से जो नए प्रश्न हैं, उन प्रश्नों में जो संघर्षरत आदमी है, वो नए प्रश्नों से जुड़ा हुआ नजर आता है। एक तरह से मानना पड़ेगा कि हम एक ऐसे विभ्रम में हैं कि एक झूठे आदर्श का प्रश्रय लेने बहुत सद्यः और घटित के दुर्दांत सच का सामना, उसके सच का सामना करना ज्यादा आसान है तो यह जो साहित्यिक प्रश्न है, इन साहित्यिक प्रश्नों की साहित्यिक दुनिया का जो स्वरूप उद्घाटित होता है, वह ज्यादा मानवीय, ज्यादा बेहतर, ज्यादा समाज शास्त्रीय दिखाई देता है और इसलिए जो सारा सौंदर्य शास्त्रीय विवेचन है, उसमें एक तरह से हमें छूट लेनी पड़ेगी और हम अपने शास्त्रधारों को तिलांजलि देकर के एक नए आधार निर्मित करेंगे और यह हुआ भी है। आलोचना जगत की खबरें देंखे आप लोग तो बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ है। कुछ की गति दुर्गति की अवस्था में पहुँची हुई है। वह अलग क्षेत्र है।

प्रश्न : आपने अभी बात की नवरत्नीय परम्परा की। तो नवरत्नों की जो परम्परा रही है, इसी से जुड़ा हुआ अगला सवाल है कि दरबारी जो साहित्य रहा है और नवरत्नीय परम्परा का जो विस्तार रहा है, वह आधुनिक सभ्यता तक आते-आते वह कौन सी गौरवशाली परंपरा में विकसित होना शुरू हुआ? दूसरा, इसी के साथ ये कि साहित्य अकादेमीज जो बनना शुरू हुई, साहित्यिक संस्थान बनना शुरू हुए, उनमें नवरत्नीय परंपरा और दरबारी साहित्य लिखने वालों की कितनी बड़ी भूमिका रही है और दूसरी चीज कि दरबारों का जो साहित्य है और साहित्य के जितने दरबार बने उनमें कहाँ-कहाँ अंतर आया, क्या अंतर था? और कौन से रचनाकार जो आधुनिक समय के लगते हैं, जो दरबारी और नवरत्नीय परम्परा के हैं, कितने ऐसे रचनाकार हैं जिन्हें इसमें जोड़ा जाता रहा और किन्हें हाशिये पर रखा जाता रहा है?

गंगाप्रसाद विमल : इसको इस रूप में समझना चाहिए कि जो प्राचीन नवरत्न परम्परा थी, ठीक वैसी परम्परा तो निर्मित नहीं ही हुई है, लेकिन फिर भी जैसा आपने कहा कि किसी पक्ष की पक्षधरता से जुड़ी हुई परंपराएँ हमारे सामने दिखाई देती हैं और उनमें कुछ ऐसे थे जो राजनीतिक रूप से जुड़े रहे और उन्होंने परम्परा में इजाफा ही किया। अब वहाँ सियासी रूप से जुड़े हैं तो उनका मौन भी स्वीकृत मान लिया गया। ऐसा हुआ है। तो हम अगर इसका विश्लेषण करें, हमारे समय में जो बहुत स्थूल उदाहरण हैं, उनकी परीक्षा करनी ज्यादा जरूरी है। हमारे समय मे जो स्थूल उदाहरण हैं, जो गुमनामी के अंधेरे में गुम हो गए हैं, जैसे हमारे बहुत बेहतर कवि श्रीकांत वर्मा हैं, श्रीकांत वर्मा एक राजनीतिक तंत्र से संबंधित थे और वे राजनीतिक दल के मुताबिक काम करते थे। अगर देखा जाय तो वे क्या कर रहे थे? लेकिन श्रीकांत वर्मा ने उस विडम्बना को लिखने के बाद जो लिखा जो उनका 'मगध' कविता-संग्रह है, उस संग्रह में हम उन विडम्बनाओं की झाँकी पाते हैं, जो कि एक तरह से सत्ताधीन वृत्ति के अंतर्गत दिखाई दे रहा है। तो श्रीकांत ने उनसे लोहा लेने की कोशिश की। अपनी रचनाओं के द्वारा और वे पक्षधर थे उनके, एक दल के पक्षधर थे। तो वे बिलकुल साफ-साफ दिखाई देते हैं। और उसमें दिखाई देता है कि जो श्रीकांत का वैचारिक चिंतन था, वह ज्यादा से ज्यादा लोहिया तक जाता था। लोहिया के समाजवाद से जुड़े हुए जो लोहिया के विचार सामने आए उन विचारों से समान रूप दिखाई देता है। लेकिन जिस तरह से लोहिया ग्रो कर रहे थे, उस तरह से रचनाकार ग्रो नहीं कर रहे थे। लोहिया ने उस तरह से बाद में जो रामलीला सम्बन्धी और मेला सम्बन्धी आनुष्ठानिक प्रक्रिया का समर्थन किया। तब उनका लक्ष्य यह बताना था कि राम बहुत गहरे में भारतीय मानस के भीतर उपस्थित हैं। वे विश्वास, आस्था, श्रद्धा, समर्पण की थैली में पड़ा हुआ है। और वहाँ से उसे बाहर निकालना बड़ा कठिन है।

लेकिन लोहिया का जो राम था वह बड़ा प्रोग्रेसिव राम था। बजाय कि जो हिंदूवादी दृष्टि है, उससे राम को देखा जाय। तो राम में ही देखिये कि कितने तरह से परिवर्तन के बिंदु दिखाई देते है। यहाँ तक कि हम देखते हैं कि हमारे जो जन नेता हैं, वे राम को गले लगाते हैं तो दूसरी तरफ जो नेता हैं, वे राम के प्रति अपनी वृत्ति और गुस्सा उसको भी जाहिर करते हैं। जबकि हमारे समाज मे जो आदर्श हैं, उन आदर्शों की उद्गम स्थली के रूप में राम और ऐसे जो रूप हैं, उनको स्वीकृति मिली हुई थी। हम केवल यह बताना अनिवार्य समझते हैं कि बहुत सारे लोग जो सत्ता के निकट रहे, सत्ता का हिस्सा बने रहे और राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व करते रहे, ऐसे लोग जो हैं, वह शायद कहना पड़ेगा कि वह अपने परिचिन्तन में एक दोष-दृष्टि का शिकार हुए।

प्रश्न : इसी से जुड़ रहा है अगला सवाल, अभिव्यक्ति के खतरे उठाने वाले कौन-कौन से रचनाकार हैं या युग-युगांतर से होते रहे हैं, जो कि दंड व्यवस्था का शिकार भी हुए और

उन्हें मृत्युदंड दिया गया, राज्य से निकाल दिया गया, राष्ट्रद्रोही साबित किया गया, हत्याएँ तक हुई उनकी और साहित्य के जो पैरोकार बने हुए हैं, उनका नजरिया दूसरा रहा। अगर आज देखे तो जहाँ दाभोलकर, पानसरे, कलबुर्गी आदि की हत्याएँ हुई, तो यहाँ क्या कोई ऐसी फासीवादी वृत्ति दिखाई देती है या इसके पीछे साहित्य का कोई और मकसद भी है ?

गंगाप्रसाद विमल : इस प्रश्न पर बहुत गंभीरता से सोचना चाहिए। इस प्रश्न को इस तरह से सोचना चाहिए कि ये लोग जो हर प्रकार का प्रतिरोध झेलते हुए भी एक वैज्ञानिक दृष्टि से पूरे समाज की जो स्थितियाँ हैं, उनका अध्ययन करते रहे उनके प्रति विद्वेष का क्या कारण हो सकता है ? क्योंकि ये ऐसे लोग थे, जो सत्तापक्ष से जुड़े हुए नहीं और सत्तापक्ष ही नहीं वैश्विक स्तर पर देखा जाय तो वैश्विक स्तर पर इनका मूल्यांकन होना चाहिये कि ये क्या चीज चाहते थे ? यहीं से बहुत सारे लोगों को यह भी नहीं कहना पड़ेगा कि ये किसी राजनीतिक दल से प्रेरित थे लेकिन विश्वभर में लोग जिनको नये आदर्श समझते हैं, नयेपन का सूत्रपात करने वाले मानते हैं। उन लोगों ने एक व्यापक मनोदृष्टि जो है वो सामने रखी है और आपने इस संदर्भ में ठीक कहा कि ऐसे लोगों ने दंड की उपेक्षा की, मृत्यु की, हत्या की और जो निर्भीकता दिखाई, इस निर्भीकता को दिखाने वाले बहुत लोग शिकार हुए हैं। उनका पुनर्मूल्यांकन करना चाहिए कि वे कौन थे, क्या थे, कैसे थे, उनकी वस्तुनिष्ठता को एकबार देखा जाना चाहिए क्योंकि आपाधापी में यह हुआ कि उनकी वस्तुनिष्ठता देखी नहीं गई। उनके पक्षधर जो हैं, जो उनके पक्षधर रहे वो पक्षधर भी वस्तुनिष्ठता का निर्माण नहीं कर पाए। उस दृष्टि से देखने की कोशिश नहीं कि विचारधारा के आधार पर भी देखना चाहिए कि कौन से जनपोषक विचार हैं, मनुष्य संरक्षक विचार हैं। कई विचार जन पक्षधर नहीं हैं और कई विचार मनुष्य संरक्षक योग्य नहीं हैं और जो एक संकीर्ण दृष्टि है, वह संकीर्ण दृष्टि हमेशा सोचती है कि ये राष्ट्रवाद के विरुद्ध काम करने वाले लोग हैं। संकुचित दृष्टि का यह खतरा है। इस पर बहुत गम्भीरता से सोचना चाहिए। क्योंकि एक राष्ट्रीय इकाई में रहने वाले लोग, एक भाषा बोलने वाले लोग, एक राज्य के तमाम अनुशासनों को स्वीकार करने वाले लोग अचानक विरोधी कैसे करार दिए जा सकते हैं। अचानक राष्ट्रद्रोही कैसे करार दिए जा सकते हैं, इस पर सोचना चाहिए। इस पर विवाद होने चाहिए। उस पर जो प्रशासन तंत्र और सत्ता है, उससे विग्रह होना चाहिए कि यह गलत है। तो साहसिक तौर पर ऐसे लोग बाहर निकल नहीं पा रहे हैं और जो लोग दिवंगत हो जाते हैं उनके विचार निश्चित रूप से वो रोशनी देते रहते हैं। जनसमाज को रोशनी देते हैं। लेकिन उनके प्रति जो दुर्भावना और संकीर्णता है, वह अपना खेल खेलती रहती है और ये दोनों ऐसी चीजें हैं जो अक्सर राष्ट्रवाद का मुखौटा ओढ़कर अपना काम करती रहती हैं। उसका भी प्रकटीकरण होना चाहिए, उसके कपट, उसके छल का उसके षड्यंत्र का उसका बराबर सचेत हो करके उसके रूप बताने

चाहिए।

जैसे, मैं महसूस करता हूँ हम एक समाज में रहते हैं। आमजन की एक छोटी सी इकाई एक परिवार में रहते हैं। हमारे परिवार में भी मतैक्य या मतभेद होते हैं। हम खुद निर्णय लेते हैं, कई बार हम नहीं सहमत होते हैं। अपने पिता से नहीं सहमत होते, अपने परिवार से नहीं सहमत होते, उसमें हमारा परिवार इतनी मजबूत इकाई होता है, तो वह हमें निकालने की कोशिश ऐसे थोड़े ही करता है कि परिवार से बाहर हो जाओ। अपने जन्मकुल से बाहर हो जाओ। ऐसा नहीं होता लेकिन हम जिन सामाजिक इकाइयों में रहते हैं, उन सामाजिक इकाइयों में जो बहुत ही क्रूर संकीर्णतावाद है, वह मनुष्य के विकास के प्रति एक प्रकार का द्वेष रखता है और उससे विकास प्रभावित होता है और उसे हम जानते भी हैं पर उसके अपने निहित स्वार्थ हैं, उसकी अपनी दृष्टि है। वह अपने छोटे से स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकते हैं।

प्रश्न : यहीं से बिलकुल अगला सवाल जुड़ रहा है, जो आपने कहा कि जो संकीर्णता, संकुचन, राष्ट्रीय इकाई या अनुशासन जो जनपक्षधरता या समाज की दृष्टि दुर्भावना या राष्ट्रवाद का जो मुखौटा है, इन सभी के बीच जो लोग चुप्पी साधे रहे, लेखक थे, उन्हें कई या तमाम बार पुरस्कारों से नवाजा गया और यह जो कैटगरी है पुरस्कार बनाम गैर पुरस्कृत, इनके बारे में आपकी क्या राय है? जैसे अभी हाल में हुआ कि उदय प्रकाश या अशोक वाजपेयी ने पुरस्कार लौटाने की परम्परा का निर्वाह किया, तो ऐसे लोगों का एक समय में पुरस्कार लेना और एक खास समय बाद पुरस्कार लौटा देना, यह कोई राजनीतिक या साहित्यिक खेमेबाजी के तहत हुआ है या साहित्य को आगे बढ़ाने की दिशा देता है?

गंगाप्रसाद विमल : मेरा ख्याल है कि लेखक के पास प्रतिरोध के लिए शक्ति क्या है? उसके पास शक्ति यही है कि जो आपके द्वारा प्रदत्त मान्यताएं हैं, उसको अस्वीकार कर दें। आप भले ही उसे लेखक मानते रहें, वह कहता है कि मैं आपकी मान्यता को स्वीकार नहीं करता क्योंकि आप उस व्यक्ति को भी लेखक मान रहे हैं जो मेरी दृष्टि में लेखक है ही नहीं। अब देखना यह है कि यहाँ लेखक कौन है और कौन नहीं। यह एक मूल प्रश्न है। लेखक लेखन किसलिये करता है आखिर। लेखन जो है वह पक्षधरता के लिए नहीं, लेखन जो है वह एक तटस्थ विवेचन और आलोचन है। कोई आलोचना कोई ग्रन्थ हो, उसका स्वभाव ही वैसा है और यह स्वतंत्र समाजों में ऐसे लोग होते हैं। यह स्वतंत्र समाज हैं। यह कोई विचारधारा के समाज नहीं हैं। पूरे विश्व मे ऐसे बहुतेरे स्वतंत्र समाज हैं जैसे फ्रांस है, फ्रांस एक अद्भुत समाज है। फ्रांस में समता है, समरसता है, भाईचारा है, उनके यहाँ जो मूल्य हैं, उन मूल्यों के संरक्षक भी ये सब उनके समाजों में मिल जाएंगे लेकिन उनके यहाँ विरोध को कुचलने की कोशिशें नहीं होतीं।

बहुत पहले आपने देखा होगा दि गॉल के शासन के समय ज्यां पाल सार्त्र वे उग्र विद्यार्थियों के समूह में शामिल हुए तो उस समय सत्ता पक्ष ने कहा कि ज्यां पॉल सार्त्र को गिरफ्तार करो। दि गॉल का कहना था कि ज्यां पॉल सार्त्र को गिरफ्तार करके क्या मैं फ्रांस को गिरफ्तार कर लूँ ? समूचा फ्रांस उन मूल्यों के लिए निर्मित हुआ है जो ज्यां पॉल सार्त्र कह रहे हैं।

भारतवर्ष में हम क्यों शर्माते हैं यह बात कहते हुए, भारत का निर्माण जो है, वह बहुलता, बहुभाषिकता, बहुधार्मिकता, बहुविश्वास इसके कारण हुआ है, इसी के कारण भारत है। केवल एक छोटे से विश्वास के लिए भारत का निर्माण नहीं हुआ है। एक बड़ी समरसतापूर्ण आकृति जो उसको प्राप्त हुई है, वह बहु विश्वासों के आचरणों के कारण हुई है और आप उसे एक विश्वास में बनाना चाहते हो, जो कि खोट है आपके मन में। तो मेरा अपना मानना यह है कि पुरस्कार आदि जो हैं, वह ज्यादातर देखना चाहिए कि उसको वस्तुनिष्ठ हो करके पहले समझा जाए, कि पुरस्कार कम होते हैं और उसको चाहनेवाले बहुत होते हैं। बहुत सालों से मैं युवा लोगों की कविताएँ पढ़ता हूँ और मैंने उस काल के एक युवा कवि की कविताएँ पढ़ीं, उसका नाम लेने में मुझे संकोच नहीं है, पंकज सिंह नाम है। वह सबके प्रिय नहीं थे क्योंकि वे सबसे उलझ जाते थे। तो जाहिर है कि सत्तापक्ष से भी पंकज सिंह उलझे हुए थे। सत्तापक्ष के लोग उनको नहीं चाहते थे। मैं पाँच साल तक देखता रहा कि उनकी इतनी बढ़िया कविताएँ और किताब 'नहीं' कविता-संग्रह में थीं जो कि बहुत बढ़िया कविताएँ थीं। वह एक राजनीतिक विचारधारा से सम्बद्ध कवि था, इससे क्या फर्क पड़ता है। लेकिन वह मनुष्यता का तो समर्थक था, लेकिन देखिये तो पाँच साल तक उसके नाम की चर्चा तक नहीं हुई। फिर वे दिवंगत हो गए। तो उनका पुनर्मूल्यांकन होना चाहिए। मतलब कहने का यह है कि बहुत सारे ऐसे कवि हैं और उन कवियों को पुरस्कार से समादृत नहीं किया गया। लेकिन उससे इन कवियों का महत्त्व खत्म नहीं हो जाता।

इसमें सिर्फ इतना याद रखिये कि मैं आपको यह बताना चाहता हूँ, जरा आप मुझे ये बताएं, निराला को कितने पुरस्कार मिले थे? लेकिन क्या निराला का कवित्व छीन लेना सम्भव है। कितने ही लोग पैदा हो जाएँ, हमारे यहाँ तो दूसरे की सामग्री पर हाथकशा करने वाले लोग वह भी लेखक बना दिये गए हैं। एक खास राजनैतिक विचारधारा के लोग उनको भी लेखक मानते हैं, लेकिन पूरा जनसमाज नहीं मानता। एक लाइब्रेरियन का जो काम है, उसके अनुरूप काम करने वाले लोग विशुद्ध खोजी मान लिये गए हैं। पर ऐसे खोजियों को कौन खोजी मानता है। नहीं मानता। समय बड़ा निर्मम निर्णायक है। समय खारिज कर देता है उनको, तो ऐसे बहुत से लेखक हैं जो अपनी सदी में ही नहीं पूरे समय से ही खारिज कर दिए गए हैं। लेकिन जो बड़े नाम हैं वह उभरकर सामने आते रहते हैं और उनसे हमारा कारोबार चलता रहता है। और हम ये

जानने के लिए उत्सुक रहते हैं कि नए शिखर कौन निर्मित कर रहा है। नयी दिशाएँ कौन बता रहा है, नयी चीजें कौन बता रहा है।

हमारा जो प्राचीन साहित्य है, उसमें जो आदर्श उदात्तता है, उस शिखर को छुए तो कोई दो राय नहीं, क्योंकि उस समय चीजों को आँकने की एकमात्र वही विधि थी। अब वह विधि नहीं है। इसलिए वो स्वीकार नहीं करते। लेकिन इस तरह हम अपने अतीत को धूमिल नहीं कर सकते। हमारे अतीत में उसी से छन करके कुछ ऐसी परंपराओं का निर्माण हुआ है, जो अन्य अनेक धाराओं में अलग- अलग चलती रही हैं, तो आज भी वही स्थिति है। लेखकों का जो एक स्वीकार है, वो पुरस्कार को स्वीकार करने का उनका प्रयोजन सिर्फ इतना है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिल रही है या नहीं। जो पक्षधर लोग हैं,वे समाज को विरूपित करने लगते हैं, वो क्रोधित हो जाते हैं। वो सोचते हैं कि इस मान्यता का कोई अर्थ है ही नहीं। मान्यता वापिस करते हैं।

यह अकेले हिंदुस्तान में ही नहीं हुआ, विदेशों में और बाहरी देशों में तमाम बार ऐसा हुआ है। ज्यां पॉल सार्त्र ने तो सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नोबल पुरस्कार को यह कहकर ठुकरा दिया था कि यह मुझे नहीं चाहिए। आप ये भी देंखे न, कि संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार और उसको अस्वीकार कर रहा है यह आदमी। तो इसमें क्या है। बहुत लोगों ने अस्वीकार किया है। बहुत लोगों ने तो राजसी सम्मान तक वापस किये हैं। बहुत सारे लोगों ने तो राजसी सम्मान लेने तक से मना कर दिया। ब्रिटेन में और यहाँ-वहाँ तमाम ऐसे लोग हैं, जिन्होंने अस्वीकार किया है। तो हम उन आदर्शों को क्यों नहीं याद रखते कि क्या हुआ होगा। भारतवर्ष में हम इन चीजों को पचा नहीं पाते। देख नहीं पाते। कहने का अर्थ ये है कि मारे समाज में किसी एक वैचारिक आधार से मेल न रखने वाले जो लोग हैं, उनको अलग-थलग करके उनको अपना दुश्मन मानने की जो प्रथा है, वो एक तरह से अवैज्ञानिक है और यह अवैज्ञानिक प्रथा जो है, जब सत्ताएँ खेल खेलती हैं तो सत्ताएँ ही परास्त हो जाती हैं। नष्ट हो जाती हैं सत्ताएँ। सत्ताओं का रूप जो है, वह नष्ट होना है। लेकिन एक बड़े लेखक को, एक बड़े विचारक को आप नष्ट नहीं कर सकते। उसको शरीर से नष्ट कर सकते हैं आप, लेकिन उसकी विचारधारा डंके की चोट पर आपके माथे पर दस्तक देते रहती है।

अगर आप सतायेंगे लोगों को, सृजनात्मक लेखकों को सतायेंगे, तो जाहिर है कि उनका लेखन रिबाउंड होकर आपको तंग करेगा। जो मूल्यवादी विचार हैं, वो आपको तंग करेंगे। अन्ततः उन्हीं से चल करके हम अपने भविष्य का निर्माण करते हैं, उसी से हम अपने नए भविष्य का शास्त्र, नए भविष्य की परम्पराएँ, नए भविष्य की जो बहुत सारी दूसरी धाराएँ हैं, उन्हें

निर्मित होते हुए देखते हैं।

प्रश्न : यहाँ से सर एक सवाल आता है आपने कहा कि जो नई परम्परा जो नए शास्त्र के निर्माण करने का है तो वह सवाल जुड़ता है हिंदी आलोचना से। हिंदी आलोचना में अबतक कई 'स्कूल ऑफ थॉट्स' हुए हैं तो आपको क्या लगता है कि आधुनिक जो परम्परा है आलोचना की उसमें कितने 'स्कूल ऑफ थॉट्स' थे। इसी के साथ जुड़ा हुआ है कविता का मुद्दा। कविता के मामले में ही अगर देंखे तो नामवर जी का जो 'स्कूल ऑफ थॉट' था, उसका कितना अर्थ रहा, कितना अनर्थ हुआ- और वह 'स्कूल ऑफ थॉट' किस नई परम्परा को आगे ले जा पाया है या कुछ नए 'स्कूल ऑफ थॉट्स' आगे जुड़े हैं ?

गंगाप्रसाद विमल : इसमें पहले यह मानना चाहिए कि हमारे प्राचीन काल के जो आदर्श थे, उन आदर्शों के सहारे हम अपनी रचनाओं का परीक्षण करते थे और वे बहुत स्थूल आदर्श थे। चूँकि वे स्थूल आदर्श थे इसलिए रचना की जो पेचीदगियाँ थीं, उनकी तरफ उनका ध्यान कम था। चूँकि वे आदर्श थे इसलिए आदर्शों का जो हश्र होता है, हुआ। वे बिल्कुल उन पोशाकों की तरह थे कि जो पोशाक आपने पहन ली वैसे ही आपके आदर्श हो गए। और जो नहीं पहन सके वे अनादर्शवादी रह गए। लेकिन जो आधुनिक समय है, उस आधुनिक समय में आलोचना यह मेरी व्यक्तिगत सोच है। आलोचना में कदम रख चुका हूँ, मैं आलोचना पर काम कर रहा हूँ। पर मुझे अपने को भी देखते हुए लगता है कि हम लोग एक तरह से ज्यादातर रचना के स्थूल रूपों के अनुसार ही कर पाते हैं । रचना को गहराई से जाँचने की विधि हमारे पास है ही नहीं। समूचे आधुनिक साहित्य में एवं रचना साहित्य में यही स्थिति रही है और चूंकि ऐसी कोई विधि नहीं है तो इसके लिए कोशिश की जानी चाहिए।

अब नाम को ही लें तो यह कोशिश अकेले कुछ एक लोगों ने नहीं की है। इस कोशिश का एक बहुत बड़ा लम्बा इतिहास रहा है। बीसवीं शताब्दी में स्वाधीनता के बाद आपने देखा होगा कि अधिकतर लेखक जो हैं वे आलोचना से ज्यादातर आश्वस्त नहीं थे और उन पर आरोप यह लगा कि वे अपनी तारीफ सुनना चाहते थे। लेकिन बहुत सारे लोग थे जो इस तरह की कोई बात नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने वक्तव्य देने आरम्भ कर दिए अपनी रचना के जरिये। उनको ये लगा कि मेरी बात अगर लोगों को नही समझ आ रही है तो मुझे ही इसका उत्तर देना होगा और उससे आलोचना की कुछ नई वृत्तियाँ विकसित हुईं। नामवर जी उन सबके एक समुच्चय के रूप में सामने आए। नामवर जी के अपने आदर्श थे। अपने वैचारिक आदर्श थे। नामवर जी ने अपने इन्हीं आदर्शों के मुताबिक अपना काम करना शुरू किया, पर नामवर जी के जो समकालीन हैं, उनको यह भूलना नहीं चाहिए कि जैसे उनके समकालीन रामविलास शर्मा हैं,

नामवर जी से बड़े हैं और उस दौर के लेखन जगत में बड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के लेखक हैं, सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, मुक्तिबोध हैं, रघुवीर सहाय हैं और भी बहुत सारे दूसरे लोग हैं। इन लोगों को जाँचने के लिए इनकी परीक्षा के लिए एक प्रकार के शास्त्र की जरूरत थी, वह निर्मित ही नहीं हुआ। इनकी रचनाओं के प्रदेशों की तरफ जा ही नहीं पाए। हमने बस ऊपरी तौर पर उसकी परीक्षा कर ली। तो एक तो यह मानना चाहिए कि हमारे यहाँ आलोचना का एक नया स्वरूप विकसित होना चाहिए। उसके विकसन की कुछ छवियाँ दिखाई तो देती हैं। ऐसा नहीं है कि बिल्कुल निर्जीव हो गया हो। और उसमें सत्य यह है कि एक छोटे कालखंड में सीमित है, उससे आगे नहीं बढ़ पा रहा है और ज्यादातर आलोचना में जो बहुत महत्त्वपूर्ण लेखन था, उसकी उपेक्षा की गई।

हमारे समय के जो महत्त्वपूर्ण लेखक हैं, जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया, फणीश्वरनाथ रेणु, मनोहर श्याम जोशी, विद्यासागर नौटियाल और मैं तो एक सबसे अपरिचित नाम का उल्लेख करूँगा दयानन्द अनंत, अगर आप इन चार पांच लोगों की कहानियां पढ़ें तो इनकी कहानियों से आपको यह मालूम पड़ेगा कि ये नव कथा से कितने आगे जा चुके हैं। नई कहानी के जो दिग्गज और धुरंधर हैं, उनमें से जो अतुलनीय हैं, वो मोहन राकेश हैं। उनकी कोई भी कहानी पढ़ लीजिये। एक कहानी है 'सुहागिनी', तो आपको लगेगा कि जो आपका स्त्री-विमर्श है, वो दूसरा नजर आ रहा है। आज के परिदृश्य से इसे देखना बड़ा जरूरी है। उसमें आप अनेक प्रकार के द्वंद्वात्मक विमर्श देख सकते हैं। उसमें आप पद व्यवस्थाओं की स्थिति देख सकते हैं। एक अमीर और गरीब का जो द्वंद्व है, उसमें वह भी नजर आएगा। तो ऐसे बहुत सारे लेखक हैं और इन लेखकों ने उन जरूरतों को रेखांकित किया है, जिनके मूल्यांकन की नई विधि अपनाई जानी चाहिए। जिनसे हम आने वाले नए लेखन की परीक्षा कर सकते हैं। आने वाले लेखन की घोर उपेक्षा हुई है, बहुत सारे लेखक हैं जो आज भी गंभीरता से सक्रिय हैं।

हमारे यहाँ जो अब तक गद्य आलोचना का रूप है, वह शैशव अवस्था में है। अभी विकसित नहीं हुआ। कविता की आलोचना के नए आधार जिन्होंने निर्मित किये हैं, वो ज्यादातर स्वयं कवि हैं। उन कवियों ने अपनी विवेचना प्रस्तुत की है। मेरा ख्याल है कि जब हम लोगों को आजादी देंगे कि बेहतर ढंग से वे रचनाओं की परख करें तो शायद बेहतर ढंग से सोचना शुरू करेंगे। अभी भी उनकी एक लंबी फौज है, जो संघर्षरत हैं कि एक बेहतर को कैसे पहचाना जाये। अलग-अलग ढंग से, जैसे हमारे शम्भुनाथ हैं, वो अपने ढंग से चीजों को पहचानने में लगे हुए हैं। एक लंबी और बड़ी फेहरिस्त है, जिसमें बहुत सारे लोग हैं। उन नए नामों की सूची है, जो बहुत सक्रिय हैं और मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि आलोचना का क्षेत्र ऐसा है जो दिल्ली सेंट्रिक नहीं है, जो दिल्ली का आलोचक हो, लेखक हो। यहाँ से बाहर बहुत अद्भुत

प्रकार से लिखने वाले लेखक मौजूद हैं। मोटे तौर पर यह मानना चाहिए कि आलोचना की जो गतिविधि है, उसमें क्या, क्यों, कैसे ये सवाल जरूर पूछे जाने चाहिए कि क्यों विकसित नहीं हुई, कैसे पिछड़ गई, कहाँ पिछड़ गई। आलोचना में वो सार नहीं है, वो ताप नहीं है, वो आँच नहीं है कि वो रचना के उस संताप को पहचान सके।

प्रश्न : यहीं से एक चीज जुड़ रही है कि दो तरह के लेखक लगातार देखने को मिले, जिसमें एक टाइटल दिया गया। नई कहानी में भोगवाद, संभोगवाद। एक तरफ फणीश्वरनाथ रेणु जैसे लोग हैं और दूसरी तरफ मोहन राकेश हैं, निर्मल वर्मा हैं, कमलेश्वर हैं। इसके अलावा कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी हैं। इनमें दो तरह का लेखन पाया गया। एकतरफ लोकधर्मी सांस्कृतिकता और ग्रामीण परम्परा, ग्रामीण जीवन, ग्रामीण परिवेश और यथार्थवादी लेखन है और दूसरी तरफ एक खास स्ट्रक्चर है, जिसमें महिलाओं को केंद्र में रख करके और सारी सांस्कृतिकता को एक देह में समेट दिया गया है। जहाँ से पोर्न भी निकला, जहाँ से सेक्स भी निकला, जहाँ से तमाम तरह के श्लील-अश्लील कहे जाने वाले तथ्य हैं, वो सारी चीजें निकल कर सामने आई हैं। तो इस पर आपकी क्या राय है कि नई कहानियों में ये जो दौर है, अंतर्द्वंद्व और टकराहट का इसको आप कैसे देखते हैं ?

गंगाप्रसाद विमल : ये बहुत स्पष्ट प्रश्न है। यह तो अपने आप ही बता रहा है वो स्थिति कि हाँ ऐसा है, ऐसी परिस्थितियाँ हैं और जो हमारे विश्वविद्यालय हैं, वहाँ इसको स्वीकार कर लिया गया है। हमारे विश्वविद्यालय की पाठ्य-पुस्तकों में यही स्थिति दिखाई देगी, जिसका आपने उल्लेख किया और वहाँ उसको छानबीन करने की किसी ने कोई कोशिश भी नहीं की। कम कोशिश हुई है क्योंकि विश्वविद्यालयों के जो शोध हैं, उनको यह निकालना चाहिए था। बाहर करना चाहिए था। मोटे तौर पर यह मान लेना चाहिए कि हमारे जो साहित्यिक रुझान हैं, वो बहुधा प्रभाववादी होते हैं। उस पर या तो सत्ता का प्रभाव है या लेखक का प्रभाव है या एक विचार शून्यता का भी प्रभाव हो सकता है। एक विचारधारा का प्रभाव है एक विचार शून्यता का प्रभाव है। विचार शून्यता का जो प्रभाव है, वो ज्यादा घातक होता है और इसे मैं एक दूसरे चश्मे से देखने की कोशिश में हूँ कि इसको देखूँ, इसको पहचानूँ। मैं अभी खुद भी इस रास्ते का पथिक हूँ।

इसलिए मुझे लगता है कि बीसवीं शताब्दी की सर्वश्रेष्ठ रचना ढूँढें तो कौन-सी होगी या फिर बीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास ढूँढते हैं। मैंने अपना दिमाग बहुत लगाया कि बीसवीं शताब्दी याद रहे कि देवकीनंदन खत्री के बाद के उपन्यास और प्रेमचंद के उपन्यास और उसके बाद जो धीरे-धीरे नई पीढ़ी उपन्यास की तरफ अवतरित होती है, उसके सारे उपन्यास और

भगवती चरण वर्मा इत्यादि-इत्यादि के उपन्यास, उस वक्त जो राहुल सांकृत्यायन आदि और आजादी के बाद तो बहुत बड़ी लम्बी फेहरिस्त है एक तरफ। एक तरफ नागर जी हैं तो दूसरी तरफ अनेक प्रकार के लेखक भी हैं। जिनमें बहुत सारे लेखक भारत को बिम्बित कर रहे हैं और हिन्दी का जो यह उन्नयन है, वह इन सृजनात्मक कोटियों से और अधिक पृथक है। यह बहुत साफ-साफ दिखाई देने लगता है और ये जो गतिविधियाँ हैं, ये हिंदी के उस उन्नयन को दिखाते हुए हमें इस बात के लिए विवश करती हैं कि कौन-सी रचना बड़ी होती है। कौन- सी बीसवीं शताब्दी की श्रेष्ठ रचना होगी, पहले हम इसे ढूँढें। बीसवीं शताब्दी में अद्भुत उपन्यास लिखे गए हैं। प्रेमचंद का मैंने नाम लिया और भी लेखक हैं, जिनके उपन्यास छपने लगे थे। जिसमें एक नाम है मेरी स्मृति में जो नाम भूल रहा हूँ। एक पुराने उपन्यासकार हैं, उनकी एक कृति पढ़ी थी और उस कृति के बारे में मुझे कुछ कहने के लिए कहा गया। और उस कृति की समीक्षा की सूचनाएँ जब मुझे मिलीं, उस पर सुमित्रानंदन पंत ने एक समीक्षा लिखी थी। ऐसा मुझे बताया गया और पन्त की एक पंक्ति मुझे याद आ रही है। पन्त ने कहा था यह उपन्यास बांग्ला उपन्यासों के समकक्ष रखने के लिए एक बेहतरीन उपन्यास है। इतनी सुपात्रता है। यानी बांग्ला में तब तक उपन्यास बड़ा विकसित हो गया था और हिंदी में 1910 के करीब जब यह उपन्यास छपता है तो उसकी चर्चा होती है।

ऐसी औपन्यासिक कृतियों की यात्रा करते हुए मैं जब इसकी सूची बनाने लगा तो मैंने कुछ उपन्यास चुने कि देखूँ इनमें कौन-कौन से बड़े उपन्यास हैं। मेरे गुरु हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बड़े अद्भुत उपन्यास लिखे। उनके तीन उपन्यास जो बहुत प्रसिद्ध थे, उनमें 'अनामदास का पोथा' बहुत प्रसिद्ध है। और उसके समानांतर और भी उपन्यास हैं, जैसे 'चित्रलेखा' इत्यादि बहुत सारे उपन्यास जो अपनी ख्याति और गरिमा के कारण बहुत ऊँचे पहुँचे हुए थे। प्रेमचंद का गोदान था। फिर मुझे लगा कि बड़े उपन्यास किसे समझूँ तो मुझे लगा कि जैनेन्द्र कुमार का एक उपन्यास है 'जयवर्द्धन'। फिर मैंने और कोशिश की बड़े-बड़े उपन्यासकारों में जैसे रेणु को नहीं भूलना चाहिए। उनका 'मैला आँचल' भी बड़ा उपन्यास है। फिर मुझे लगा कि मैं दूसरी धारा के उपन्यासों की तरफ भी थोड़ा मोह रखता था तो रेणु का 'परती परिकथा' बड़ा उपन्यास है। फिर उन्हीं दिनों मेरे एक युवा मित्र थे जगदीश चंद्र उनका 'धरती धन अपना' दिखाई दिया। इन तमाम उपन्यासों को सामने रखने के बाद मैं जब बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों की गणना करने लगा तो मुझे एक बेजोड़ उपन्यास दिखाई दिया और वो जो बेजोड़ उपन्यास है वह है 'हमजाद'। मेरी दृष्टि में यह बीसवीं शताब्दी का निचोड़ है।

'हमजाद' मनोहर श्याम जोशी के इस उपन्यास पर एक लेख भी लिखा है और मेरी दृष्टि में बीसवीं शताब्दी की जो सबसे त्रासद घटना है, भारत के संदर्भ में दो विश्व युद्ध नहीं, विभाजन

और विभाजन को रूपायित करना उस समय एक कठिन काम था। लेकिन विभाजन में किस चीज का विभाजन हुआ। क्षेत्र का विभाजन हुआ और किस चीज का विभाजन हुआ। क्षेत्र का विभाजन तो आदमी सह लेता है तो फिर असह्य विभाजन किस चीज का हुआ होगा। इसे देखते हुए मुझे लगा कि उस एक तत्व को निर्दिष्ट करने वाला छोटा सा उपन्यास 'हमजाद' था।

इसी तरह कविताओं में भटका कि सर्वश्रेष्ठ कविताएँ कौन-कौन सी होंगी। मेरे निकट जो भी रहे जो बड़े-बड़े शिखर रहे, वो भी आये, बहुत सारे आये और मैने देखा कि गोरखपुर में रहने वाला एक दलित कवि जो है, मैं तो हैरान रह गया यह देखकर कि वो कविताएं, गजब लिखता है। देवेन्द्र कुमार बंगाली उसका नाम था। वह कहीं ज्यादा बड़ा कवि है। उसने बहुत छोटी कविताएँ लिखीं, बहुत मार्मिक कविताएँ लिखी। तो मैं समझता हूँ कि हमारी अपनी जो समृद्धि है, उस समृद्धि को रेखांकित करने लगें तो उसमें यह चीज बिल्कुल भूल जाएँ कि साहित्य या लोकतंत्र में कोई छोटा बड़ा नहीं होता। ये भी भूल जाएँ कि ये बड़े लेखक हैं इनका नाम क्यों नहीं आया। ये एक ऐसा लोकतंत्र है बड़ा ही विचित्र लोकतंत्र है। इसमें आयु, विद्वता, तजुर्बा कोई काम नहीं करता। जो चीजें जीवित रह जाती हैं, वही जीवित मानी जाती हैं।

मैं सोचता हूँ कि ये 1919 का समय है और मैंने एक पुराना कवि पढ़ा था, उसे अज्ञेय जी ने डिस्कवर किया था। उस कवि का नाम है चन्द्र कुंवर बड़थ्वाल। एक-दिन मेरी केदार जी से बात हो रही थी, केदार जी ने कहा था कि उसकी एक दो कविताओं पर कहीं से असर पड़ा हुआ है। मैंने अपने बहुत सारे कवि मित्रों से इस पर जिक्र किया कि असर पड़ा हुआ है तो असर पड़े हुए के कारण किसी कवि को खारिज करना बड़ा कठिन काम है। पूरी उसकी सृजनात्मकता तो प्रभाववादी नहीं है। एकाध कविताओं पर प्रभाव पड़ा हो सकता है। अगर पड़ा हो, बहुत सारे ऐसे भी लेखक आपको मिलेंगे जिन्होंने एक भी ओरिजनल नहीं लिखा। सारी रचनाएँ प्रभाववादी हैं। ऐसे भी मिलेंगे। वो भी बड़े ख्यातिनाम हो जाते हैं और लोग डंके बजाते रहते हैं। लेकिन हिंदी का जो सृजनात्मक संसार है, उसके शिखर खोजना यह हिंदी साहित्य की पुनर्यात्रा की तरह है। मैंने बीसवीं शताब्दी की पुनर्यात्रा की है। आप लोग भी उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी की पुनर्यात्रा एक बार कर लें तो बेहतर रचनाओं का परिदर्शन हो जाएगा।

कवि, कविता और विमल जी बरास्ते 'इतना कुछ'

- डॉ. ऋषिकेश मिश्र

इक्कीसवीं सदी विकास की सदी है, लेकिन साथ-साथ यह बहुत कुछ खोने और पाने की सदी भी है। समकालीन कविता के वरिष्ठ कवि गंगाप्रसाद विमल ने अपने सृजन में मानवीय कारनामों के इतने दृश्य अंकित कर दिए हैं कि समाज की अनेकानेक शुभाशुभ चित्रावलियों को उनमें सहज ही देखा जा सकता है, जिसके माध्यम से देश, समाज और विश्व में व्याप्त विसंगति, विषमता और अंतर्विरोध रूपाकार हो उठते हैं। लगता है जैसे विमल जी नयी सदी की मोहाछन्न पीढ़ी के द्वार पर अपनी कविताएँ लेकर दस्तक दे रहे हैं।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी की दुनिया में साहित्य की विभिन्न विधाओं की बात करें तो सबसे विकट परिस्थिति कविता की ही है। इसका कारण है, कविता का जुड़ाव संवेदना से है, करुणा से है और इस अर्थ-प्रधान एवं आत्मकेंद्रित युग में इन चीजों की आवश्यकता ही शेष नहीं बची। फिर, बड़ा ऊबड़-खाबड़ रास्ता है कविता का। यदि आप बाजार का गुणा-भाग जानते हैं, तब इस राह पर पाँव धरिए या फिर घर फूँक तमाशा देखने के लिए तैयार रहिए क्योंकि काव्य सृजन का जो प्रतिदान है, वह आज के समाज का प्रमुख लक्ष्य नहीं है। ज्ञान प्रमुख नहीं रहा, लाभ-हानि के तराजू पर सूचनाएँ प्रमुख हो गईं। कवि समाज की जिन विद्रूपताओं को उद्घाटित करके अथवा जिस सौन्दर्य को महिमामंडित करके उपकृत होता था, अब वे दिन लद गए। आज के समाज में न सौंदर्य के लिए स्थान है और न ही करुणा या संवेदना के लिए। हम सौंदर्य-बोध हीनता के युग में जी रहे हैं। आज के संदर्भों में संबंधों का निर्वाह तो अब दूर की कौड़ी है। इस सदी में भौतिकता और सुखवाद की परिभाषाएँ भी बदली हैं। अब यहाँ किसी को किसी की जरूरत नहीं रही। अब जरूरत के मापदंड बदल गए हैं। अब मनुष्यता के शीर्ष पर अपने पैर रखकर भी तरक्की की छलाँग लगायी जा सकती है। लोकतंत्र(?) में अपने स्वार्थ और तथाकथित विकास के नाम पर सत्ता भी आपको साधिकार बेदखल कर सकती है। आप विस्थापित हो सकते हैं। आपकी पीड़ा से किसी को कोई सरोकार नहीं। आमजन को भी परंपरा, मूल्य और संस्कृति की कठुज्जतें विकास के मार्ग में बाधा ही नजर आती हैं। मनुष्य प्रकृति से बहुत दूर चला गया है। यदि कभी वह प्रकृति की ओर लौटता भी है तो अपने स्वार्थ के लिए और उसके दोहन के लिए। संचार के माध्यम से दुनिया मुट्ठी में आई अवश्य किन्तु संबंधों की खाई

और चौड़ी हो गई। समाज का सांस्कृतिक परिदृश्य अनवरत धूमिल होता जा रहा है। परिवार और संस्कारों की संकल्पना अवांछित बनती जा रही है। हम अब एकल और सीमित परिवार को भी पीछे छोड़ आए हैं। माता-पिता को तो 'हम दो हमारे दो' कहकर हमने पहले ही परिवार की सीमा से बेदखल कर दिया था, अब तो आभासी (Virtual) दुनिया में पति-पत्नी के संबंधों की भी जरूरत नहीं बची। हम अब 'हमारे दो' से 'एक' पर आ गए हैं। अब तो एक ऐसी पीढ़ी भी है, जो 'एक' के लिए भी अपनी शारीरिक सुषमा का क्षय नहीं चाहती। अब सूनी गोद भरने के लिए भगवान की ओर ताकने की जरूरत नहीं है। अब बिना विवाह के माँ होने का गौरव प्राप्त किया जा सकता है या अन्य तकनीकी तरीके अपनाए जा सकते हैं। रिश्ते-नाते भी अब लाभ-हानि के पलड़े पर तौले जाते हैं। सत्य, त्याग, प्रेम और सामूहिकता के लिए कोई जगह नहीं है। वैश्विक पटल पर जिस गौरवमयी संस्कृति का दंभ भरा जाता था, वह भी अब धूल-धूसरित हो गई है। ग्लोबल-गाँव में सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया है। ऐसे में रचनाकार के समक्ष चुनौतियाँ बढ़ जाती हैं। एक रचनाकार को पहले तो सही अर्थों में मनुष्य, उसके बाद कवि होने की जरूरत है। जरूरत है, उस करुणा, संवेदनशीलता और सहजानुभूति की जो कविता के कारणभूत तत्त्व हैं। साथ ही एक सर्जक के पास देश के इतिहास-भूगोल की समझ हो, अनुभवों का जखीरा हो, और हो एक तटस्थ एवं निर्भीक भूमिका जो एक कवि को सच कहने का साहस देती है। यदि ऐसा नहीं है तो कविता 'बैठे ठाले का घर' से अधिक कुछ नहीं है।

कवि विमल जी केवल नाम से विमल नहीं रहे। वे वास्तव में गंगा की भाँति निर्मल थे। छल-छद्म से कोसों दूर। उनकी कविता में गंगा की पवित्रता है तो समाज के स्याह पक्ष को उजागर करने की निर्भीक कूबत भी है। उनकी कविताओं में एक दर्द है- विस्थापन का, अपनी जमीन से दूर होने का और जगत के निरंतर बदलते जाने का, जहाँ सबसे बड़ा संकट पहचान का है। उनकी कविताओं में एक यथार्थ अनुभूति है। हिमालय के एक छोटे से कस्बे उत्तर काशी में जन्मे विमल जी ने दिल्ली को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और अपनी प्रतिभा, अध्ययन एवं लेखन से एक विशिष्ट पहचान बनाई। विजप, बोधि वृक्ष, नो सूनर, इतना कुछ, सन्नाटे से मुठभेड़, मैं वहाँ हूँ, अलिखित-अदिखत, कुछ तो है,खबरें और अन्य कविताएँ जैसे कई कविता-संग्रह प्रकाश में आए। विवेच्य कविता-संग्रह 'इतना कुछ' तीन खंडों मेंविभाजित है- चल रहा हूँ वर्षों से, स्मृति के मणिबंध और रास्ते वही हैं।

आजादी के वर्षों बाद तक देश की स्थितियाँ बहुत अधिक नहीं बदलीं। अतः लोगों का मोह भंग होने लगा। सामाजिक-आर्थिक विषमता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। आपातकाल ने देश की तमाम गतिविधियों को प्रभावित किया। उस समय जितने संस्थान थे, सबने सत्ता से साठ-गाँठ कर ली। विशेषकर मीडिया संस्थान ने। आदर्श और समाज-सेवा का भाव प्रायः समाप्त हो गया।

कई क्षेत्रीय राजनीतिक दलों द्वारा अपने दलगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामाजिक वैमनस्य के बीज बोए गए। 90 के दशक में हुई संचार-क्रांति ने दुनिया को तो करीब ला दिया किन्तु भारतीय जनजीवन में एक ऐसे परिवर्तन का बीजवपन किया, जिसने पारस्परिक संबंधों की गर्मजोशी खत्म होती गई। बाजारवाद, उदारीकरण और भूमंडलीकरण जैसे पदबंध आर्थिक व्यवस्था के द्वार पर दस्तक दे रहे थे। जगत की अनेकानेक अच्छाइयाँ-बुराइयाँ भी वैश्विक होने लगीं। इससे ग्रामीण समुदाय और उनकी दशा-दिशा में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। विमल जी के संग्रह 'इतना कुछ' में 80-90 के दशक की जो अन्यान्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक उठापटक है, वह बड़ी संजीदगी के साथ मुखरित हुई है।

संचार-क्रांति ने हमें एक अंधी दौड़ में ला खड़ा किया। इसमें कोई दो राय नहीं है कि इस क्रांति के फलस्वरूप मनुष्य विकास के राजमार्ग पर सरपट दौड़ने लगा, किंतु इस विकास के साथ अपनेपन की डोर भी शिथिल हुई। इस दौड़ में न चाहते हुए भी सभी शामिल हो रहे हैं, जो आधुनिकता और बाजार का तकाजा है। नदी के द्वीप की भाँति 'बहना रेत होना है' यह जानते हुए भी बहना है:

शामिल होना चाहता हूँ मैं / क्यों / जबकि इतिहास में /
हम सबको होना है अनकहा / इस अंधी दौड़ में। (लोगों के साथ, इतना कुछ, पृ. 11)

कवि को इस बात का इल्म है कि लोग विषादग्रस्त और कामनाओं का बोझ उठाए भागे चले जा रहे हैं, लेकिन इस विषाद से उबरने की कोशिशें ही मनुष्य को जीवित रखती हैं। आज हमारे आस-पास जो कुछ घटित हो रहा है उसके प्रति हम कितने उत्तरदायी हैं? हैं भी या नहीं? दरअसल मानवीय प्रवृत्ति रही है कि जो कुछ भी शुभ होता है उसका श्रेय लेने के लिए तो होड़ लग जाती है, किन्तु जो कुछ भी घृणित और वीभत्स है उसकी जिम्मेदारी क्या किसी की नहीं है? आज भी हम राजनीति में एक दूसरे पर दोषारोपण करते हुए लोगों को देख सकते हैं। जब तक हम किसी भी संबंधित स्थिति के लिए जिम्मेदारी नहीं लेंगे या जिम्मेदारी तय नहीं की जाएगी तब तक भविष्य की राह सुखद और आसान नहीं होगी:

जो कुछ हो रहा है / उसमें मेरी भूमिका / सिर्फ इतनी है / कि मैं देर के बहाने खोजूँ /
और इनकार करूँ / कि यह मेरे / कहने से नहीं।(जो कुछ हो रहा है, इतना कुछ, पृ. 14)

हमारे यहाँ 'जय किसान' के नारे तो खूब लगाए गए, किंतु किसान सदैव उपेक्षित रहा। विमल जी धान रोपते हुए किसान को देखते हैं, जो धान नहीं मनुष्य का भविष्य रोप रहा है। वे करुणा से भर उठते हैं। विमल जी निराश नहीं हैं, बल्कि स्थितियों के बेहतर होने की संभावनाओं से भरे हुए हैं। किंतु जो वर्तमान की विडंबनाएँ हैं, उनसे मुँह मोड़ लेना या उन्हें

नकार देना एक सर्जक व्यक्तित्व के लिए आसान नहीं हैः

जब पकेंगे धान / भरेंगे खलिहान / सुनहरे हाथों में खनकेगा /
कोठार से अन्न निकालते / परिश्रम का अर्थ / अभी तो मिट्टी सने हाथों में /
प्रतीक्षा है / मिट्टी में / राग / धान रोपते हाथ /
रोपते हैं भविष्य। (धान रोपते हाथ, इतना कुछ, पृ. 16)

मानव योनि स्वयं को पशु योनि से श्रेष्ठ मानती आई है, निस्संदेह है भी। वन में (हालाँकि वन अब बचे नहीं, वे अब चिड़ियाघर और सफारी में बदल गए हैं।) हिंसक पशु रहते हैं, जहाँ न तो मूल्य हैं न ही विवेक। हिंसा उनकी नियति है। प्रकृति भी स्वाभाविक रूप से अपना कार्य करती रहती है, प्रतिक्रिया देती है। किंतु मनुष्य अपना बाना क्यों छोड़ देता है। मानव होने के बावजूद डसने की प्रवृत्ति कैसे सीख लीः

जानवरों को / पता नहीं है पेड़ / ठिठका-सा / सोचता है विवेक /
कितना शोर है शहरों में / क्या आदमी भी / बन गया है पशु।(वन में, इतना कुछ, पृ. 16)

अपनी एक कविता 'गंतव्य' में उन्होंने आज के मनुष्य की भागमभाग से उपजे अवसाद का चित्रण किया है। आज हम सबको पीछे ठेलकर आगे बढ़ जाना चाहते हैं। तत्पश्चात् कहाँ पहुँचेंगे, वह प्राप्य मनुष्य-धर्म के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होगा? इस पर विचार ही नहीं करते। लघु मानव विकारों के बोझ तले बेतरह दबा हुआ है। यह धरती वैसी ही रहती है, किंतु अभिमानी मनुष्य बदलते-बदलते समाप्त हो जाता है। क्या कुछ बदलता है? बस दौड़े जा रहे हैं, जाना कहाँ है? इसका ज्ञान नहीं है। विचार भी तो स्थिर नहीं रह पातेः

रास्ते / अपनी जगह नहीं बदलते / मन्तव्य से / फिर किसी भवितव्य का /
रास्ता / हो जाता है तय / चल रहा हूँ मैं भी / गंतव्यों की ओर /
पर पहुँचता / कहीं भी नहीं। (गंतव्य, इतना कुछ, पृ. 20)

मनुष्य स्वतंत्र रूप से जन्म लेता है। यदि पूर्व जन्म के संस्कारों की बात न करें तो वह कोरी स्लेट की भाँति होता है। किंतु जन्म लेने के बाद से ही मनुष्य बनने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। हम उस बच्चे को मनुष्य बनाते-बनाते सारा छल-छद्म और कलुष सिखा देते हैं। उस नवागत पर अपनी उम्मीदें थोपते हैं। जिसे कभी हम पूरा नहीं कर पाए, उसे हम किसी भी कीमत पर उससे पूरा करवाना चाहते हैं। फलतः मनुष्य की स्वच्छंदता और अस्तित्व पर ग्रहण लग जाता है। उसकी स्वतंत्रता छिन उठती है। आज विद्यालयों में अंक-प्राप्ति के लिए एक होड़-सी मची है। नूतन सृजन, शोध और गुणवत्ता पर कोई लक्ष्य नहीं है। अपने अभिभावकों की उम्मीदों पर

खरा न उतर पाने की दशा में विद्यार्थी आत्महत्या तक कर ले रहे हैं। क्या इस गुनाह के लिए कोई क्षमा है:

कौन करेगा मुक्त / इस दासता से / दासता यही कि / कुछ नहीं कर सकता मैं /
मनचाहा / अपराधों की क्षमा / कौन देगा? / क्योंकि मुझे लगता है /
जिसने यह जीवन दिया / उसने मुझे सबसे पहला दंड दिया / दंड दिया कि मैं /
सहता रहूँ जीने की यातनाएँ। (क्षमा, इतना कुछ, पृ. 21)

और यहाँ कोई क्षमा या पश्चाताप नहीं है, क्योंकि आपकी लापरवाही से एक जीवन विनष्ट हो जाता है:

कितना अच्छा है / क्षमा माँगना / आत्मस्वीकार से / बरी हो जाना पापों से /
मुड़ना फिर नए पापमय स्वर्ग की ओर। (वही पृ. 21)

आज मानव-व्यवहार की दशा यह है कि वह अपने दुख से कम दूसरों के सुख से अधिक दुखी है। अहंकार लोगों में कूट-कूट कर भरा हुआ है। यह अहंकार न तो मनुष्य को ऊपर उठने देता है और न ही दूसरों के उठान पर आनंदित ही होने देता है। हमारी सहजता कहीं खो गई है:

अहंकार कब कहता है / सहता है दूसरों का उठना
कब टूटता है अहंकार का शिखर।(हवा क्या कहे, इतना कुछ, पृ. 25)

आज के आधुनिक मनुष्य के सामने सबसे बड़ा संकट अपनी पहचान खोने (Identity Crisis)का है। हम अपनी जड़ों से निरंतर उखड़ते चले जा रहे हैं। अब हमारी जड़ें हमें बाधाओं के रूप में दिखाई पड़ती हैं। जड़ होना उचित नहीं किंतु जड़ें छोड़ना, अपनी नस्ल को उन्मूलन के मुहाने पर ले जाकर खड़ा करने और अपनी परंपरा एवं संस्कृति से विक्षेप जैसा है। दरअसल हमारी जड़ें ही हममें गहराई और मजबूती प्रदान करती हैं। आज मनुष्य अत्यंत ओछा और उथला होता जा रहा है। चारित्रिक गंभीरता नदारद है। बस अपना प्रयोजन सिद्ध होना चाहिए, किसी भी क्षण और किसी भी मंच पर अपनी नियति बदल देते हैं। हमसे अच्छे तो पेड़ होते हैं, कम से कम अपने स्वभाव पर स्थिर तो रहते हैं। गिरगिट की तरह रंग तो नहीं बदलते:

पेड़ जड़ों से शुरू होता है / बढ़कर / आसमान की तरफ हमेशा ऊँचाइयाँ ताकता है /
पर जड़ें नहीं छोड़ता/जड़ों से वह / बार-बार पनपता है /
ऊपर हवा के साथ आसमान की ऊँचाइयों से / रिश्ता कायम कर /
नीचे जड़ों से धरती से जुड़ा रहता है / पेड़ आदमी नहीं जो /

जो उछलकर दूसरी तरफ हो लेता है। (पेड़ जड़ों से शुरू होता है, इतना कुछ, पृ. 27)

इस कविता में विमल जी ने मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति पर कटु प्रहार किया है। अपनी 'प्रतीक्षा' कविता में कवि ने व्यवस्था की विद्रूपता को उजागर किया है। व्यवस्था बदलाव के दावे करती है। यह बात अलग है कि वह अपने अनुकूल परिवर्तन करती है। दरअसल वह हथेली पर सरसों उगाना चाहती है। उसके सारे बदलाव हवा-हवाई होते हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से राजनीति के अनेक जादूगर आए पर विकास को लेकर किसी का तिलस्म नहीं चला। सिर्फ विकास का इंद्रजाल प्रस्तुत करते रहे। कवि भी उन सच्चे और अच्छे दिनों को लेकर प्रतीक्षारत है, जब ये तिलस्म साकार होंगेः

झरता है सुख / उनके आइनों में / तकती हैं मेरी आँखें / मेरे मुख सुख अभी /
कल्पना में / करवट बदलते हैं / वक़्त ही करवट नहीं बदल रहा /
करता हूँ इंतजार मैं भी। (प्रतीक्षा, इतना कुछ, पृ. 29)

प्रकृति का निरंतर और बेहिसाब दोहन कर हमने पूरी पारिस्थितिकी बिगाड़ दी, जिसका परिणाम हमें सूखा, बाढ़, भूकंप, तूफान, महामारी आदि के रूप में समय-समय पर देखने को मिलता है। प्राकृतिक आपदाओं की तस्वीर मीडिया अलग-अलग तरह से बताती है, किंतु विमल जी की दृष्टि सूखे को जिस तरह से अनुभूत करती है वह अद्वितीय हैः

सरकारी खबरें या दूसरे अखबार / कहते होंगे बहुत कुछ /
किसानों की आँखें, घास लाती औरतों के पाँव /
पानी उलीचते हाथ / मीलों-मील चलते कदम / कह देते हैं सब कुछ /
हाँ सब कुछ। (सूखा, इतना कुछ, पृ. 31)

आजादी के दशकों बीत जाने के बाद भी सामाजिक, आर्थिक स्थितियाँ नहीं बदलीं। एक वर्ग तथाकथित विकासशील देश में मूलभूत सुविधाओं से वंचित जीवन जीने को अभिशप्त है। सामान्य वर्ग का यह संकट अधिकार प्राप्त वर्ग को दिखाई नहीं देता। दरअसल आम नागरिक की पीड़ा, अभाव, वेदना और दंश किसी अलौकिक शक्ति की देन नहीं है, बल्कि ये समस्याएँ हमारी व्यवस्था की कोख से उपजी हैं। इन्हें हमारी आत्मकेंद्रित सामंती और शासकीय प्रवृत्ति तथा श्रेष्ठता के दंभ ने गढ़ा है। इस अभावग्रस्त, पीड़ित और वंचित जनता के लिए हुकूमतों के पास कोई योजना नहीं है। इसीलिए अमीरी और गरीबी के बीच का अंतर कम नहीं हो पा रहा है। उनके अभाव का चक्र सदियों से निरंतर चल रहा है। कई शासन बदले लेकिन उनकी स्थितियाँ नहीं बदलीं। इस समाज की कराह और पीड़ा उत्तरदायी वर्ग क्यों नहीं देख पाता? उनकी पीड़ा

देखकर कवि आत्मग्लानि से भर उठता है। विमल जी की कविता 'तुम्हें संबोधित है यह' उन लोगों को समर्पित है जो एक संपन्न तबके और सत्ता द्वारा लगातार उपेक्षित हैं:

तुम्हें देख रहा हूँ काम करते / बोझा उठाते बर्तन माँजते /
जुगत से गृहस्थी चलाते /खैनी में खुश होते / सत्तू में उत्सव मनाते /
तुम्हें देख रहा हूँ शहरों गाँवों, / कस्बों में। / धीरे-धीरे कच्ची उम्र में बुढ़ाते /
मेरी तरह की आँखों में / छपे होंगे ये दृश्य / नहीं तो क्या अंधों की तरह /
नहीं देखते होंगे लोग। (इतना कुछ, पृ. 33)

मनुष्य के सच-झूठ के आडंबर को उरेहती कविता 'आडंबर' में कवि उसके बनावटीपन को अनावृत्त करता है, जो आज मनुष्य का स्थायी भाव बन चुका है। मनुष्य की कथनी और करनी के बीच कोई सामंजस्य नहीं है। उसके दिखने और होने में कोई तारतम्य नहीं है:

सच रहता है / अँधेरे की गुफाओं में / और झूठ / प्यार के प्रदर्शन में /
जब जब कोई आता है / प्यार जताता है / तब तब कोशिश करता हूँ /
न करें विश्वास सच का। (आडंबर, इतना कुछ, पृ.35)

कवि विमल जी एक सुरक्षित भविष्य की आशा में चिंतित दिखाई देते हैं। भविष्य की यह चिंता उनकी व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि वैश्विक है। मनुष्य ने जब से आँखें खोली, जंगलों से नगरों की ओर आया, तमाम सुख-संसाधन विकसित किये किंतु भविष्य की चिंता कभी खत्म नहीं हुई। वह विकास के अनेकानेक पायदान पार करता रहा, परंतु अपना अज्ञात भविष्य सुरक्षित नहीं कर पाया। दरअसल जिन भौतिक वस्तुओं में मनुष्य सुख तलाशता रहा, सुखद भविष्य की कल्पना में अपना वैभव बढ़ाता रहा, वस्तुतः वहाँ सुख है ही नहीं। सही अर्थों में सुख, मानवीय मूल्यों के सतत विकास और उसके अनुपालन में है। समत्व बुद्धि में है। सात्विक वृत्ति में है, जिनसे मनुष्य निरंतर दूर होता जा रहा है। तथापि सुखद भविष्य की कल्पना थमनी नहीं चाहिए। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा सुख 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की संकल्पना में ही सन्निहित है:

इतने वर्तमानों के बीच / युद्ध आए। विपदाएँ। हताशाएँ। / प्रतीक्षारत रहा /
रहूँगा जब तक देख पाऊँगा। / अपनी आत्मा के दर्पण में /
वह सुरक्षित-सा भविष्य। (भविष्य, इतना कुछ, पृ. 40)

आज कहने को तो हम इक्कीसवीं शताब्दी में आ गए हैं, किंतु आदिम अंधकार से विकास के उजाले तक की इस यात्रा में आदिम जिज्ञासा अभी खत्म नहीं हुई है। दो पाटों/अंधकारों के

बीच हम क्या हैं? हमारी स्थिति क्या है? हमारा मूल क्या है? इस अंधकार रूपी दो पाटों (जीवन-मृत्यु/भूत-भविष्य) के बीच पिसने का प्रयोजन क्या है? ये तमाम प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं:

दो अंधकारों के बीच / दिखता है रोशनी में कुछ कुछ /
शेष अदेखी रह जाती है चूल / शून्य में पदार्थहीनता से लिपटा /
टँगा है हमारा आवास / यही है क्या हमारा मूल /
दो अंधकारों के बीच। (आदिम जिज्ञासा, इतना कुछ, पृ. 44)

आज लोगों की दशा यह है कि सभी अपने में व्यस्त और मस्त हैं, साथ-साथ त्रस्त भी। भाग्यवादियों की भी कमी नहीं है, जो किसी चमत्कार की आशा में बैठे हैं। छोटे-छोटे सुखों के साथ दुखों की एक अंतहीन शृंखला है। सभी एक-दूसरे के छिद्रान्वेषण में लगे-उलझे हैं। चापलूसी का कोई अंत नहीं, उसी प्रकार दुखों का भी कोई अंत नहीं:

धारावाहिक दुख में / धर्मग्रंथ उठाए, सुरक्षा की कल्पना से / कुचक्र की फाँस से /
बेखबर हैं लोग / जयजयकार में भी / हाहाकार में भी। (लोग, इतना कुछ, पृ. 50)

आज तो सभी अपना आँगन बुहारने में लगे हैं। जो सामाजिकता, सामूहिकता और मूल्यों की बात करते हैं, वे विकास दौड़ में पीछे धकिया दिए जाते हैं। अतः लोगबाग लाभ-लोभ की संस्कृति से उबरना नहीं चाहते। एक रचनाकार को भी पता है कि अपने सृजन में विद्रोह की संस्कृति को स्थान देने का अर्थ है अपना साहित्यिक हुक्का-पानी स्वयं बंद करना। आज के सर्जक को लगता है कि यदि उसने सामयिक परिस्थितियों का सच उजागर किया तो सत्ता पक्ष से मिलने वाले लाभ से वह वंचित रह जाएगा। स्थिति यह है हमारे आस-पास एक अँधेरे का साम्राज्य कायम हो गया है। विडंबना यह है कि इस अँधेरे में हम किसी तरह की रोशनी भी नहीं चाहते। इस अँधेरे में भी हम 'हितोपदेश' के श्वान की भाँति रस लेने लगे हैं। स्वार्थ के वशीभूत हम अंधेर नगरी के खिलाफ मुँह नहीं खोलते। यदि किसी गलत नीति के कारण हमारे वर्ग-समुदाय को येनकेन प्रकारेण लाभ हो रहा है तो हम उसके विरुद्ध कोई प्रतिक्रिया न देते हैं, न देना चाहते हैं। विराट भावना का समाज से मानो अंत हो गया है। बस, हम सुरक्षित बने रहें। आगजनी, आंदोलन, अभाव, भूख, आतंकवाद, नक्सलवाद, भाई-भतीजावाद, प्रांतवाद, भाषावाद, भेद-भाव, तुष्टीकरण आदि कुरीतियों का एक ऐसा संजाल हमारे इर्द-गिर्द बुन दिया गया है, जिससे हम निकलना भी नहीं चाहते और निकल भी नहीं सकते। इन अवांछित स्थितियों का एक विशिष्ट तबका लाभ उठा रहा है, शेष संघर्ष के लिए अभिशप्त हैं। दुखद यह है कि विसंगतियों के विरुद्ध एक तरह की प्रतिक्रिया-शून्यता का दौर है। समाज में फैली अव्यवस्था के

प्रति सामर्थ्यवान लोगों की अकर्मण्यता सवालों के घेरे में है। इन अर्थों में एक सर्जक के रूप में विमल जी की स्वीकृति प्रणम्य है। 'भविष्य के लोगों' कविता में विमल जी की वेदना चीत्कार कर उठती है

तुम जब हत्यारों की सूची बनाओगे / तो मुझे मत भूलना / न सही /
मैंने हाथों में बंदूक नहीं पकड़ी / पर मैं चुप था /
अन्याय के वक़्त / कहवाघरों में / लतीफेबाजों के बीच /
जो बड़बोले थे / उनमें एक मैं भी था.../ हत्यारों में केवल /
वे ही नहीं शामिल / जिनके साधन विफल हुए थे। /
अखबार / बनिया / अध्यापक / कलाकार / ये सब शामिल थे /
इसलिए कि ये अपनी-अपनी / चिंताओं में / अपने निर्माण में रत थे। /
इन्हीं के भविष्य से / कितने ही अतीत / और वर्तमान टूटे थे /
लिखना इनके भी नाम। (इतना कुछ, पृ. 51)

लोकतंत्र के चारों स्तंभों पर लोगों का विश्वास आज खत्म हो रहा है। विकास के दावों के बीच जमीनी हकीकत कुछ और है। विश्व की अनेक क्रांतियों में बुद्धिजीवी वर्ग की विशेष भूमिका रही है। आज बुद्धिजीवी वर्ग अपनी नैतिक जिम्मेदारियों के प्रति अन्यमनस्क हुआ है। हम भगत सिंह चाहते तो हैं, किंतु पड़ोसी के घर में। बुद्धिजीवियों के राजकाज तो सत्ता को लाभ पहुँचाने वाले हैं। लोकतंत्र के 'लोक' के समक्ष व्यवस्था की यथार्थ तस्वीर पहुँच नहीं पाती। सत्य और न्याय तो सदैव हथेली से फिसल जाते हैं:

बिल्कुल बदल जाती है / सच की तस्वीर / ऊपरी मीनारों में जाकर /
फिर उसे पहनाता है लिबास / गंभीरता से बुद्धिजीवी /
दार्शनिक मुद्रा में / पैनाता है शब्द व वाक्य / खरीदे गुलामों की तरह /
खिसियानी हँसी में / देता है सर्वाधिकार / सत्ता को। (राजकाज, इतना कुछ, पृ. 57)

कहने-सुनने और रचने का सिलसिला कभी समाप्त नहीं होना चाहिए। ज्ञान और विचार सदैव परिवर्तनशील होते हैं, जो देश-काल-परिस्थिति के अनुकूल बदलते रहते हैं। अब तक मानव समाज को बेहतर बनाने की दिशा में बहुत कुछ कहा और रचा गया है। किंतु समीक्ष्य कवि को वह नाकाफी लगता है। वह कुछ और कहना चाहता है, जो अब तक कहा नहीं गया है। कहीं कुछ अमूर्त है, जिसका मूर्त होना मानव सभ्यता के लिए अपरिहार्य है:

सहन की अनेक गाथाओं में / विचित्र से भयंकर और क्रूरतम /
सब कुछ जैसे सहा गया है / पर सूरज के आने और विदा होने तक /
हर रोज यह असहनीय वक़्त / सहना पड़ता है। चुपचाप बिना इनकार किए /
वही तो खोजना चाहता हूँ मैं / शब्द और अर्थ के बीच /अमूर्तित मूर्ति को /
इतनी बार खोजा गया है सदियों से / फिर भी। (इतना कुछ, पृ. 59)

आज जो प्रश्न हमारे समक्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, वह है- पर्यावरण संबंधी। हमने सुख-सुविधाओं की पूर्ति और भौतिक संसाधन जुटाने की प्रक्रिया में प्रकृति को विनाश के कगार पर ला खड़ा किया। चमचमाती सड़कें, गगनचुंबी इमारतें, मनोरंजन के तमाम संसाधन, मानव जीवन को सुखी बनाने वाले मशीनी उपकरण, बेलगाम फैशनपरस्ती ने प्रकृति के सौंदर्य पर ग्रहण लगाया है। आज प्रकृति सिसक रही है। जल, जमीन, जंगल और जानवर संकट में हैं। समूची पारिस्थितिकी ध्वस्त हो चुकी है। यह जंगम-जगत उचित रीति से चलता रहे इसके लिए स्थावर जगत का भव्य होना बहुत आवश्यक है। आज प्रकृति ने मानवीय अतिक्रमणों पर अपनी प्रतिक्रिया देना आरंभ कर दिया है। ध्यातव्य है कि प्रकृति की धानी चुनर पर दाग लगाकर मनुष्य अपना ही अहित करेगा। प्रकृति की पीड़ा से ओतप्रोत कवि विमल जी की कल्पना 'काश पेड़ों के भी पाँव होते' में इस रूप में मुखर हो उठती है:

पेड़ों के पाँव होते तो । होती कितनी कथाएँ / कविताएँ / और बदल गई होती /
यह दुनिया। / वे चल नहीं सकते / अपाहिज / उन्हें काटते हैं लोग, /
उन्हें काटते हैं लोग- / तो काट देते हैं / पक्षियों के आवास /
प्रकृति का सदाबहार यौवन / काट देते हैं लोग / स्मृति /
और सरहद रेगिस्तान की। (इतना कुछ, पृ. 56)

मनुष्य अपने गाँव-गिराँव से शहरों की ओर रोजगार एवं सुख-सुविधाओं की तलाश में उन्मुख होता है। ताकि वह और उसका परिवार अभाव और भुखमरी का शिकार न हो। किंतु शहर में छल-छद्म का एक ऐसा खेल चल रहा है, जहाँ आम जनता निरंतर पिस रही है। सभी एक-दूसरे का आखेट करने के लिए तैयार हैं। प्रश्न यह है कि क्या शहरों में सुख है? शहर में हर कोई आखेटक है और हम उसके आखेट। हर कोई एक-दूसरे से लाभ उठाना चाहता है। त्याग, प्रेम, सहयोग, सामूहिकता और पारस्परिकता के लिए कहीं कोई जगह नहीं है। यहाँ संबंध सिफर हैं। जीविकोपार्जन के लिए विमल जी भी पहाड़ों को छोड़कर शहर के मायाजाल की ओर मुखातिब हुए थे। 'आखेट' कविता में शहरी जीवन की विडंबनाओं के साथ-साथ उनकी निजी

टीस भी अभिव्यक्त हुई है:

वह तो आया था / ऐश्वर्य के स्वर्ग को देखने / उसे नहीं था एहसास /
न विश्वास कि नरक के ठीक ऊपर ही / नरक की ही भित्तियों पर /
टिका है शहर का स्वर्ग। / ...उसे याद आता है गाँव-घर का अँधेरा /
कितना आत्मीय प्राप्त था / विलुप्त है जो इस चमचमाती रोशनी में /
रोशनी के आखेट का / नहीं है उसे ज्ञान / न भान है कि वही तो शिकार है /
इस पूरे खेल में। (आखेट, इतना कुछ, पृ. 62)

विश्व का सबसे बड़ा संविधान भारत का है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में 'लोक' की रक्षा करने के लिए अनेक कानून बने हैं। दुर्भाग्य से उनका क्रियान्वयन ठीक तरह से नहीं हो पाता। स्वार्थी, अवसरवादी, भ्रष्टाचारी और पाखंडी इन कानूनों के बीच से बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ लेते हैं। राजनीति और अपराध का पारस्परिक गठबंधन देखकर हमारे होश फ़ाख़्ता हो जाते हैं। आज घर से निकलने के बाद मनुष्य घर सही-सलामत लौटेगा कि नहीं, यह उसे नहीं पता। बाहर न तो कहीं हमदर्दी है, न कहीं प्रेम। सभी अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हिंस्र बने बैठे हैं:

पवित्र ग्रंथों में लिखा है प्यार / हमदर्दी / अहिंसा /
और हम देख रहे हैं नफरत का झोंका / पवित्र पुस्तकों से /
इबादतगाहों की सैर कर / जबड़े खोल /
हममें से किसी को निगलने चला आ रहा / व्यवस्थाओं की सुरक्षित /
छतरियों के भीतर / नायाब षड्यंत्र चल रहे हैं /
हो रहे हैं अभ्यास हत्याओं के। (सुरक्षा, इतना कुछ, पृ. 64)

मनुष्य की विवशताएँ और असमानताएँ लगातार बढ़ रही हैं। हम एक दुराव-छिपाव से युक्त रहस्यमयी दुनिया में जी रहे हैं। भोगो और छोड़ दो (Use and Throw) की संस्कृति विकसित हुई है। पहले हमारी संवेदनाएँ प्रकृति के सभी उपदानों जल, जंगल, जमीन, जीव-जंतुओं और वनस्पतियों के साथ, यहाँ तक कि जड़ वस्तुओं के साथ भी गहरे जुड़ी थीं। घर, खेत, बाग-बगीचे, नदी-सरोवर हमारी अवस्थिति का हिस्सा थे। आज यह हिस्सा कट गया है और संवेदनाएँ मर गई हैं। अब घर हमें बाँधता नहीं है। घर का खरीदा या बेचा जाना अब लगाव या किसी प्रकार के मानापमान की बात नहीं बल्कि सामान्य-सी बात है। कवि विमल जी का घर से एक घनिष्ठ संबंध है:

जब मैं रहता हूँ बाहर / वह मेरी कल्पना से निकल /
खुले में खड़ा हो जाता है / विराट-सा / फूलों के उपवन-सा उदार /
मेरे मोह को संवेदना में बदलता / और संवेदन को / त्रास में /
घर मुझमें रहता है अकसर / मैं भी रहता हूँ / उसमें /
वह बाँधे रहता है मुझे / अपने पाश में। (घर, इतना कुछ, पृ. 69)

संग्रह के दूसरे भाग 'स्मृति के मणिबंध' में कवि की स्मृतियाँ साकार हो उठी हैं। विशेषकर गाँव की स्मृतियाँ। तमाम विशेषताओं के साथ बदलता गाँव, कवि को आतंकित भी करता है। कवि शहर में रहकर भी गाँव की स्मृतियों को भुला नहीं पाता। शहर में भी गाँव उसके साथ सतत बना रहता है। गाँव की संवेदनाओं, वहाँ की आत्मीयता और वहाँ के आचार-विचार से कवि उबर नहीं पाता। अपनी कविता 'स्मृति की खोह' में विमल जी गाँव का जाग्रत चित्र खींचते हैं। और उन लोगों के दुख को भी चित्रित करते हैं, जो किसी अनुपम स्वर्ग की तलाश में गाँव छोड़कर शहर आ गये हैं:

वे गाँव से दूर होने की वजह/नहीं रोते / रोते हैं स्वर्ग की तलाश में /
पाकर नरक। / उन्हें हँसते भी देखता हूँ / हैरत में /
उनके चीड़ों से बड़े हो गए हैं / शहरों के मकान /
...वे हँसकर कहते हैं मुझसे / जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं ऊँचे मकान /
आदमी का दिल छिप छिपकर छोटा हो रहा है। (स्मृति की खोह, इतना कुछ, पृ. 75)

धीरे-धीरे शहर में रह रहे ग्रामवासी की संवेदनाएँ भी धूमिल हो जाती हैं। वह पूर्णतया नागरी हो जाता है। चतुराई के साथ-साथ शहरी छल-छद्म भी सीख लेता है। महानगर की आपाधापी में मानो आत्मा के द्वार पर न खुलने वाला ताला जड़ उठा हो। जब गाँव का व्यक्ति बरसों बाद गाँव लौटता है तो उसे अपना वह गाँव नजर नहीं आता, जिसे वह बड़ी उदासी के साथ छोड़कर शहर आया था। इस कविता में गाँव से बिछड़ने की टीस देखी जा सकती है। लेकिन उससे भी भयावह है गाँव का अपनी विशेषताओं के साथ विलुप्त हो जाना। परिवर्तन और तथाकथित विकास के नाम पर हमें अँधेरे के अलावा और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता।

संग्रह के तीसरे और अंतिम भाग 'रास्ते वहीं हैं' में बदलाव के दंश देखे जा सकते हैं। 1991 के बाद से नीतिगत तौर पर उपजे पदबंधों ने हमें एक मधुर स्वप्नों के साथ विश्वग्राम में ला खड़ा किया, किंतु इस व्यवस्था ने मनुष्यता के गुणधर्म को बड़ी बेदर्दी के साथ आत्मकेंद्रित कर दिया। समाज की मनोदशा में आमूलचूल परिवर्तन आया। जननी और जन्मभूमि के प्रति जो

आस्था की डोर थी वह शिथिल हुई। मनुष्य अपनी जड़ों से दूर तो हुआ ही, रहा-सहा लगाव भी खत्म हो गया। यदि कहीं जुड़ाव दिखाई भी पड़ता है तो वह केवल औपचारिकता भर शेष है। कवि विमल जी शहर में आकर भी भागीरथी का किनारा, हिमालय की शीतल हवा, वृक्षों की हरीतिमा, बूढ़ी विधवाएँ, गाँव-घर के अनजले चूल्हे आदि कुछ भी भूल नहीं पाते। हिमालय भारतवर्ष का सिरमौर है। कालिदास ने इसे नागाधिराज (यस्तुतरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नागाधिराजः) कहा है। किंतु इस नागाधिराज की उपत्यका में जीने कीजो जद्दोजहद है, वह बड़ी विकट और संघर्षपूर्ण है। दुर्भाग्य से हिमालय का सौंदर्य तो हमें आकर्षित करता है किंतु जो वहाँ के निवासियों की तमाम भौगोलिक और आर्थिक बाधाओं के बावजूद अभूतपूर्व जिजीविषा है, उस पर हमारी दृष्टि प्रायः नहीं जाती। देखें-

दिखता है हमेशा उजाला / शिखर पर / और घाटियों में घुप्प अँधेरा /
इस घुप्प अँधेरे में / मुँह ढाँप सोई है गरीबी / वहाँ से थोड़े ही नीचे है /
वह रेखा / जिससे पीड़ित है राजनेता / अंधेरी गुफा में / जाती है चुपचाप /
बिना शोर किए। (शिखर पर, इतना कुछ, पृ. 93)

खेद का विषय है कि इक्कीसवीं शताब्दी में भी बहुत कुछ बदला नहीं है। असमानता, विषमता, अन्याय, आत्म-संकोच, लूट-खसोट, पारस्परिक विद्वेष आदि का साम्राज्य हम अब भी देख सकते हैं। जिसको जहाँ मिल रहा है, ताल ठोंककर वह अपना उल्लू सीधा कर रहा है। जब हम इन कविताओं को पढ़ते हैं तो लगता है मानो कवि ने आज को देखकर ही इनका सृजन किया हो। बहुआयामी प्रतिभा के रचनाकार गंगा प्रसाद विमल जी अपनी कविताओं के माध्यम से साहित्य की ड्योढ़ी पर एक सर्जक की भूमिका में प्रस्तुत होते हैं। उनकी रचना-यात्रा कभी भी खुशफहमी का शिकार नहीं होती। बड़ी बेबाकी से अपनी कविताओं में समाज के विभिन्न पहलुओं को वे उघाड़ते चलते हैं। और समाज की बेहतरी में जो कुछ भी गैरजरूरी है, उसके उत्तरदायी तत्त्वों से दो-दो हाथ भी करते चलते हैं। यहाँ तक की अपनी भूमिका का विश्लेषण करने में भी संकोच नहीं करते। दरअसल भूमंडलीकरण का बीजवपन एक दिन में नहीं हुआ था। इसकी भूमिका पिछले एक-डेढ़ दशक से बनने लगी थी। इस भूमिका के सूत्रों को हम उनके प्रस्तुत कविता-संग्रह 'इतना कुछ' में देख सकते हैं।

- स्नातकोत्तर हिंदी विभाग,
पार्वतीबाई चौगुले कला एवं विज्ञान महाविद्यालय,
मडगाँव, गोवा-403602

'विजप' और 'अलिखित-अदिखत' के बहाने गंगाप्रसाद विमल

- डॉ. सतीश पांडेय

गंगाप्रसाद विमल ऐसे समकालीन कवि-कथाकार हैं, जिन्होंने अकविता और अकहानी आंदोलन से जुड़कर अपनी रचनाधर्मिता की शुरूआत की थी लेकिन उनकी परिवर्ती कविताएँ अपने समय और समाज का बहुपरतीय यथार्थ बखूबी अभिव्यक्त करती हैं। फिर भी वे तथाकथित सुधी समीक्षकों द्वारा अलक्षित एवं उपेक्षित ही रहे हैं। यह हिंदी समीक्षा के लिए दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि एक बार उन्हें अकविता के खाते में डाल दिया गया तो फिर उनकी निरंतर विकसनशील काव्य-यात्रा का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया और वे हाशिए पर डाल दिए गए।

उनका पहला कविता संग्रह 'विजप' यद्यपि अकविता आंदोलन से जुड़े कवियों जगदीश चतुर्वेदी और श्याम परमार के साथ प्रकाशित हुआ लेकिन बाद की रचनाओं में उन्होंने व्यवस्था के प्रति असंतोष और मोहभंग के साथ-साथ प्रेम, प्रकृति-सौन्दर्य तथा समसामयिक जीवन की विविध समस्याओं एवं विडंबनाओं को समग्रता में व्यक्त किया है। उनकी कविताओं में एक तरफ अतीत की स्मृतियाँ, पहाड़ का सौंदर्य तथा वहाँ की जमीन से विस्थापित होने का दर्द है, भूख की त्रासदी है, धान रोपते हाथों का भविष्य रोपने का सपना है, प्रकृति का दोहन, पर्यावरण का संकट तथा ऐसी ही ग्रामीण जीवन से जुड़ी अन्य तमाम ग्राम संवेदनाएँ हैं तो दूसरी ओर नए शहरी परिवेश में पहचान खो जाने की छटपटाहट, शहरी जीवन की भाग-दौड़ तथा अन्य विडंबनाएँ हैं। इन कविताओं में आजादी के बाद की भ्रष्ट राजनीति, राजनेताओं की जादूगरी, अवसरवाद, पाखंड, जनतांत्रिक मूल्यों का स्खलन, मोहभंग तथा व्यवस्था विरोधभी है, साथ ही सांप्रदायिकता का संकट,जीवन-संघर्ष, जिजीविषा तथा मानव जीवन के सुखमय भविष्य के लिए जद्दोजहद भी है। ये सभी भाव-बोध उनकी सजग काव्य-दृष्टि के परिचायक हैं, जिनका सही मूल्यांकन किया जाना अपेक्षित है।

'विजप' अकविता आंदोलन वाले तीन कवियों- स्वयं गंगाप्रसाद विमल,जगदीश चतुर्वेदी और परमार का संयुक्त कविता संग्रह है। इसमें विमल जी की कुल अट्ठाईस कविताएँ संकलित हैं, जिनके संबंध में प्रकाशकीय दावा है कि ये कविताएँ आधुनिक युग के संत्रास, विसंगति तथा खलनायकत्व को ध्वनित करने वाली तथा परंपरा से परे अत्याधुनिक परिवर्तित भाव बोध से सन्निहित हैं। अकविता आंदोलन के संदर्भ में इन कविताओं का मूल्यांकन करने के पहले अकविता आंदोलन को समझ लेना आवश्यक है। इसके संबंध में डॉ. रामदरश मिश्र ने लिखा है कि 'अकविता वाले कवि संवेग और संचेतना को, नव विकसित सत्य को, सहज तरीके से व्यक्त करने

की घोषणा करते हैं। वे अव्यवस्था, विसंगति, मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों के अकाल से आंदोलित नहीं होते... आज की कविता में विद्रोह नाम से जो कविताएँ आ रही हैं, उनमें अधिकांश निर्लक्ष्य या यौन-विकृतिलक्षी हैं। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएँ सुविधा का विद्रोह करती हैं। यानी जहाँ विद्रोह करने में खतरा अनुभव हो वहाँ नहीं, जहाँ सुविधा हो वहाँ विद्रोह करती हैं। इन्हें सबसे बड़ी विसंगति सेक्स में दीखती है या शरीर की वीभत्सता में।'[1]

गंगाप्रसाद विमल की इस संग्रह की कविताओं से गुजरते हुए अकवितावादियों की तरह युगीन संत्रास, यातना-बोध, अस्वीकार, असंतोष और मोहभंग के स्वर साफ सुनाई देते हैं जिनको व्यक्त करने वाले प्रतीक 'रक्त पीती छिपकलियाँ', 'भभआता धुआँ', 'अंतरिक्ष के रंग का अंधेरा', 'लपलपाती नागिन', 'अजगर', 'अंधी गुफा', 'उदास नगर' आदि भी साफ देखे जा सकते हैं। अधिकांश कविताओं के शीर्षक भी निषेध सूचक 'अ'से जुड़े हुए हैं- जैसे 'अश्रुत', 'अशमित', 'अज्ञात', 'अकविता', 'अनाम' और 'असंपृक्त' आदि। इसके बावजूद जिन कारणों से अकविता आंदोलन की काफी भद्द पिटी यानी यौन विकृतियों का चित्रण, विमल जी की इस संग्रह की कविताओं में ऐसे भाव-बोध की कविताएँ नहीं के बराबर हैं।

संग्रह की पहली ही कविता तत्कालीन जीवन की यातना और संत्रास का बोध कराती है, जहाँ व्यक्ति स्वयं को व्यवस्था द्वारा सर्प-गुफाओं में फेंक दिया गया अनुभव करता है। वह स्वयं को उस जगह पाता है जहाँ लोग भीड़ में एकांत तथा चुक जाने के बाद इतिहास खोजते हैं-

एक मनुष्याकार लगातार अपने मांस से रक्त बहाए जा रहा है /
हजारों छिपकलियाँ रेंगती हुई रक्त पीती हैं /
मुझे फेंक दिया है यहाँ। यहाँ आदिम बिंबों के दर्पणों पर झाँक / मैं अंधा हो गया हूँ।[2]

'इतिहास' कविता भी उस समय की विडंबना को व्यक्त करती है। कवि के अनुसार जीवन में शोषकों और शोषितों या शासकों-शासितों के दोनों छोरों पर शताब्दियाँ इतिहास लिखने को विवश होती हैं। दोनों छोरों पर एक बड़ी संभावना के टूट जाने से कुछ बेतरतीब बिखर जाता है और आसमान खिले हुए फूल-सा सेतु बन कर देखता रह जाता है। खड़ी तोपों की लंबी पंक्तियों के बीच समुद्र पाखी बहुत बड़ी झील को नोचते रहते हैं तथा लहरों और पंखों तथा हवा फड़फड़ाने के अनेक स्वरों के बीच समूचा प्रदेश समाहित हो जाता है।

आजादी मिलने के बाद जिन अपेक्षाओं और सपनों के साथ भारतीय जनमानस जी रहा था, वे सपने सन साठ के आसपास टूटते-बिखरते से लगने लगे। फिर भी तत्कालीन शासकों के कई निर्णय मानने के लिए हम विवश थे। 'अश्रुत' कविता नेहरू युग के इस यथार्थ को सार्थक अभिव्यक्त देती है। इस समय का व्यक्ति सब के ऊपर एक भभआता धुआँ, अंतरिक्ष के रंगों का अंधेरा और अनिर्वचनीय मृत्यु का अनुभव करता है। वह जानता है कि अनेक निर्णयों के संदर्भ

झूठे और खोखले हैं फिर भी वह उन्हें लगातार प्यार किए जाता है और निर्णयों की दलदल से बाहर नहीं हो पाता। जीवन को सुखमय बनाने का एक झूठ लगातार उसे बाँधे रहता है और वह उसके प्रति प्रतिबद्ध बना रहता है। विकास के सारे रास्ते रुक जाते हैं और एक अनिर्वचनीय अंधकार सब के जीवन पर फैलता जाता है। इस विडंबना पूर्ण यथार्थ को व्यक्त करते हुए कवि इन निर्णयों के लबादों के उतरने के समय की उम्मीद जताता है-

अब तक शताब्दी थी, समय मोह और काल-प्रहार /
अब तक हाथ खाली थे और दिमाग भरे हुए /
अब तक सिर्फ चित्र थे, अर्थ थे,सब कुछ /
और अब : एक आकारहीन धुआँ है। धुँधलका /
लयहीन स्वर-यात्राएं और आधारहीन पड़ाव । [3]

इस बड़े चक्र में कवि एक मुँह के खुलने, एक अंधकार के घिरने और इतिहास के घोल में घुलने की प्रतीक्षा के बीच आतंक यात्राएं निकल पड़ने और निर्णयों के लबादों के उतरने के क्रम का अनुभव भी करता है। इसी तरह 'अशमित' कविता नगरों-महानगरों में अपना जीवन खपा देने वाले उस आदमी की लालसाजन्य पथ-यात्राओं के शांत न हो पाने की विडंबना बयान करती है, जिसने अपनी यात्रा आदिम समय में चट्टानों पर गीत लिखकर और गुफाओं में चित्र बनाकर शुरू की थी। आज उसकी दशा नगरों में चूस लिए गए आदमी की तरह होगई है। रास्ते पर अधमरे कीड़े की तरह अपनी केंचुल संभाले, अपने जन्म-विकलांग चेहरे छाती से लगाए तथा टेढ़े-मेढ़े बेडौल शरीर वाले ये नए ईसा मसीह आधारहीन खंभों पर लटके तपे हुए स्वरों के साथ निरंतर फुँक रहे हैं। कवि को प्रतीत होता है कि लपलपाती नागिन जिह्वाओं की प्यास अभी भी शमित नहीं हुई है और चंदन से लिपटे अजगर हरे-भरे मैदान खा जाते हैं। इसी तरह-

गति का दानव / इकट्ठे कर रहा समय के हस्ताक्षर /
/चीखता है / आकाशी मुँह खोले / अभी भी बंद नहीं हुईं /
चीखें- चिल्लाहट, ध्वनिवृत्तों पर तैरते / स्वरालाप। [4]

अपने समय के खलनायकत्व को परिभाषित करते हुए कवि मानता है कि इस जीवन त्रासदी रूपी नाटक में मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हम सब खलनायक हैं। इस समय में कोई नायक नहीं है। इसीलिए हम सब जीवित हैं। अपने ही वक्तव्यों से असंतुष्ट हम झूठ छुपा लेते हैं। हम वीर धीर गंभीर नहीं हैं बल्कि सिर्फ पोज करते हैं कि शायद कोई दर्शक भ्रम से हमें नायक मान ले-

हम अविजयी खलनायक / दिग्विजयी सपने पाल रहे, / हारे जीते कुछ नहीं /
खोये-खोये खाली फिरते हम खलनायक, हम सब खलनायक। [5]

इसी तरह समय की भयावहता को कवि 'अकविता' शीर्षक कविता में व्यक्त करता है, जो अपने कुरूप चेहरे से डराता है तथा अपने हाथों से धवलवर्णी शिखरों को तोड़ता है। समय ही मृत्युओं में हमें साक्ष्य, निर्णय या निर्देश देता है। यह क्रूर समय ही है जो हमारे पिता-पितामह को अपने आलिंगन में लिए बैठा है। एक अंधी गुफा में अनुदित उनकी यात्राएँ संभावनाओं में चलती हैं और संभावनाएँ समय के निर्णयों में उन्हें छलती हैं। आज का व्यक्ति रात-दिन आकांक्षाओं से भरे 'आकाश' से झरते फूल, रंग और दृश्य देखता है और उसमें सहज आशाएँ पेड़-पत्तों-रंगों के रूप में उभरने लगती हैं लेकिन वहाँ से आँखें खोलकर उस आकाश की ओर देखने पर फिर सब शून्य हो जाता है। सारी जिज्ञासाएँ धूमिल हो जाती हैं। आकाश उसके सारे अंतरंग दृश्य छीन लेता है और एक मौसम पीले हस्ताक्षरों में अतीत हो जाता है। आकाश की इस क्रूरता को वह अपने ही भीतर मुँह खोले बैठा अनुभव करता है जो अतीत के घोल में वर्णहीन संसार तथा अतीतावशेषों को आकार देना चाहता है। इस छटपटाहट को व्यक्त करते हुए कवि कहता है-

कैसे कहेंगे हम / क्रूर आकाश से / स्वर या रंग या दृश्य /
या हवा के आत्मीय स्पर्श / या हमारी दृष्टि से असीमानुभव मत छीनो। [6]

नगरीय जीवन के अनुभव तथा दृश्य इनकी 'अर्थ', 'विचित्र' और 'शेष' आदि कविताओं में वर्णित हुए हैं। 'अर्थ' में उदासनगर की भीड़ के बीच दरवाजों पर सजी लड़कियाँ और टूटी हुई हथेलियों पर अपना टूटा हुआ ताजमहल थामे पुरुष हैं। इस उदास नगर में एक चमत्कार की प्रतीक्षा है, जब कोई सच्ची दुर्घटना हो या फरार लड़कियों के बयान हों। कवि को यह बड़ा ही विचित्र लगता है कि एक बड़े नगर में जीने और मरने के बीच बड़ी दूरी है। वहाँ निरंतर एक निष्ठुरता नारों में पलती है। इस बड़े नगर की सच्चाई व्यक्त करते हुए कवि कहता है-

अभिरचना यही कि हम दौड़ रहे हैं / और बंद नालियों में छोड़ दिए गए हैं /
सुख यही कि इतना विराट है यह सब / जहाँ अपना अस्तित्व। नहीं। केवल नहीं।
रूपायित होने को केवल एक दूरी है / प्रदर्शन पाने को पीढ़ी की पीढ़ी है। [7]

यहाँ नगरीय संबंधों के फैलाव के बीच व्यक्ति सिकुड़ता जाता है। परिचय की अधिकता है। बेहिसाब चेहरे हैं। उनके बेहिसाब धंधे भी हैं परंतु देखने वाले उतने ही दृष्टि के अंधे हैं जो शेष को देखते हुए भी नहीं देख पाते। यह शेष उस शहरी व्यक्ति को पहचानता है फिर भी समय के अंतराल में उसे छोड़ देता है। इस संग्रह की अनेक कविताओं में कवि-मन की अतीत की यादें हैं, पहाड़ छूटने का दर्द है, प्रकृति के सुंदर दृश्यों से वंचित रह जाने की छटपटाहट है तो नगरों-महानगरों का अकेलापन, अपरिचय, भागदौड़ और अस्तित्वहीनता का बोध भी है। 'अतीत', 'अंतरीप', और 'शीर्षकहीन' आदि अनेक कविताओं में अतीत की वे यादें हैं, जिनका अभाव कवि को महानगरीय परिवेश में रहते हुए बार-बार कचोटता है। दूर वन-प्रांतर के अकल्पित दृश्य, अनगिन कथाएँ उसे

अचानक याद आ जाती हैं। लगता है कि विस्तृत शून्य से किसी ने पुकारा है। पर्वतीय प्रदेश की प्रकृति और वहाँ के जीवन से कवि का विशेष लगाव रहा है लेकिन वहाँ से टूटना- अलग होना- उसके जीवन की विडंबना रही है। इसीलिए 'अतीत' कविता में कवि को नदी की बाँहों में टूटता अंतरीप ही नहीं, सघन देवदारु वनों में नीले फूल चुनते किसी के हाथों में टूट रहे अतीत की भी याद आती है। वह शब्दाकाश में चमकते शिखरों को आकाश की नीली बाहों में अतीत बनने से लौटाने के लिए कहने का साहस नहीं कर पाता-

कैसे कहूँगा मैं / बहते समय समुद्र से / ठिठक जाओ और दूत बनकर /
उन आँखों में पितृ स्नेह भर दो / वहाँ उन घरों में जहाँ अतीत बनता हूँ मैं। [8]

इस संग्रह की कई कविताएँ बदलते मौसम में प्रकृति के बदलते सौंदर्य व प्रेम-अनुभूतियों को बखूबी व्यक्त करती हैं। 'मौसम' कविता में बदलते मौसम का मानवीकरण प्रस्तुत हुआ है तो 'अज्ञात' में घाटियों के फूल, उगते हुए सूर्य, नीचे गहराती चंचल नदी और ऊपर अपने ही दृश्य देखता शिखर चित्रित हुआ है। 'वसंत' और 'उतरते वसंत की दो कविताएँ' में कवि वसंत के आगमन और उसके बीतने के संकेत देते हुए 'आँगन में बैठे टूटे हुए मन' या 'उदास मन के चिटखे हुए शीशों' की बात भी करता है। इसी तरह 'दिनचर्या' कविता में वह आकाश की बाहों में सोए हुए फरवरी के बसंत का चित्र भी खींचता है-

दूर-दूर जहाँ बर्फ ने हरियाली ढँक ली / वहाँ एक हवा /
शिशु किलकारियों में / घाटी को जगाती है / दूर-दूर जहाँ नन्हीं अंगुलियाँ काँपती हैं / वहाँ प्रतीक्षा की हँसी झालरें / तारीखें टाँकती हैं। [9]

इस संग्रह की सात छोटी कविताओं में कुछ एक राजनीतिक संदर्भ लिए हुए भी हैं। इस क्रम में पहली ही कविता प्रजातंत्र के नाम पर सामान्य जनता के जीवन के कष्टमय होते जाने का संकेत करती है-

सरकार आटा डालती है / प्रजातंत्र का /
और चीटियाँ बढ़ रही हैं / कष्ट विष धारण किए हुए।
या
अंधेरा या उजाले से परे / कोई भ्रम /
या हमारे भ्रमों का / यह सिलसिला यह क्रम। [10]

अकविता आंदोलन की जिसके लिए सर्वाधिक आलोचना की गई वह भाव-बोध था कविता में वर्णित सेक्स जीवन की वीभत्सता और तथाकथित विद्रोही छवि। 'विजप' संग्रह की भी एक कविता 'लोग घूम रहे हैं' में इस तरह के दृश्य-बिंब प्रस्तुत हुए हैं। वस्तुतः यह महानगरों की उस

अतृप्त युवा पीढ़ी का चित्र है, जो जेबों में 'श्रीनाइट्स' डाले हुए घूमती है। उसे उपयुक्त जगह नहीं मिलती। रहस्यमय संकेत और इशारे करने वाली यह पीढ़ी भीड़, बसों या दुकानों में एक खास कोने से देखती है। वहाँ कपड़ों की हल्की सरसराहट, पारदर्शी कपड़ों के भीतरी दृश्य और झूठे परिकल्पित संयोग होते हैं। इस तरह जेबों में हाथ, उलझी फिसलनों में तबाह होते चेहरे होते हैं। कवि के अनुसार-

अंधेरी सड़कों के कोनों पर लिपटे हुए गृह विहीन पनपते प्यार /
छोटी लेनों के वृक्ष-तनों से सटे पूरे शरीर / गर्म-गर्म दीवारों पर आलिंगित कोमलांग /
पूरी शताब्दी को गाली उच्चारते छोटे-छोटे हाथ / अपनी अक्रियाओं में रत /***XXX*** /
जीवन के एक दंश के लिए / घूम रहे हैं चक्षु-मैथुन-रत अतृप्त। [11]

इसके माध्यम से महानगरों के अतृप्त मन में व्याप्त विकृतियों रूपी जीवन का दंश प्रकट हुआ है। इस तरह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'विजप' अकविता से जुड़े तीन कवियों का काव्य संग्रह है लेकिन इसमें संकलित विमल जी की तमाम कविताओं में उनकी स्वस्थ सोच वाली कविताओं के बीज सहज ही विद्यमान हैं। इनमें विस्थापन का दर्द, पर्वतीय प्रदेश का सौंदर्य और प्रेम, नगरीय जीवन की विडंबनाएँ, सामान्य व्यक्ति के सपने और संघर्ष तथा राजनीतिक छद्म आदि विषयों की भी सहज अभिव्यक्ति हुई है।

'विजप'(1967) के बाद गंगाप्रसाद विमल की काव्य-यात्रा निरंतर प्रवाहमान रही। उन्होंने 'बोधि वृक्ष'(1983), इतना कुछ(1990),सन्नाटे से मुठभेड़ (1994),मैं वहाँ हूँ(1996), अलिखित-अदिखत (2004), कुछ तो है (2006) तथा खबरें और अन्य कविताएँ (2010)आदि संग्रहों में समसामयिक जीवन-यथार्थ को सार्थक अभिव्यक्ति दी है। यहाँ उनकी परवर्ती यात्रा की पड़ताल 'अलिखित-अदिखत' संग्रह की कविताओं के माध्यम से करने का प्रयास किया गया है। इन कविताओं में अपने समय की भयावहता, व्यवस्था के षड्यंत्र और सांप्रदायिकता का खतरा, राजनीति का अपराधीकरण और नेतागण, भूख, गरीबी, अपनी जड़ों से कटने की पीड़ा, पहाड़ों का सौंदर्य, जड़ों से जुड़ाव, व्यवस्था-विरोध, संघर्ष, जिजीविषा एवं भावी जीवन की सुंदरता के प्रति आस्था आदि भाव व्यक्त हुए हैं।

इस संग्रह की 'इतने पर भी' कविता में कवि वर्तमान समय में स्थितियों की भयावहता का उल्लेख बड़ी ही सहजता से करता है। उसके अनुसार जब सब कुछ दुरुस्त लगता है या अतिरिक्त रूप से दुरुस्त लगता है तो उसकी आड़ में षड्यंत्र का पहाड़ छिपा होता है। इस षड्यंत्र के पीछे सब हमारे जान-पहचान के लोग होते हैं। इसीलिए यह षड्यंत्र अधिक खतरनाक होता है। इतने पर भी अगर भीतर से आश्वस्ति हो, कहीं कोई चाह न हो तो समझ लेना चाहिए कि षड्यंत्रकारियों ने भीतर तक प्रवेश कर लिया है और मनोलोक में यह ध्वंसकारी विश्वास बैठा दिया है कि यहीं से

अभियान शुरू होना है। इस तरह विश्वास दिला कर वे षड्यंत्रकारी अपने दस्ते में हमें शामिल कर हमें हमारे ही खिलाफ कर देते हैं। उन्हें यह विश्वास होता है कि उनके पाश से हम कभी छूट नहीं पाएँगे। यह बंधन भी अजीब है जो एहसास तो दिलाता है खुलेपन का, आजादी का लेकिन हम खुद ही अपनी आजादी के हत्यारे बन चुके होते हैं-

और आजादी का जश्न मनाते / तुम्हें मुकम्मिल विश्वास दिलाते /
तुम्हारे ही उदार विश्वासों को / पैनाकर बनाएँगे तुम्हें खूँखार /
तब तक तुम पूरी तरह बन चुके होगे / आजादी के हत्यारे। [12]

इस तरह यह षड्यंत्र विचारों और विश्वासों तक को अपनी चपेट में ले लेता है। इसीलिए जब हमारा सोच उनसे अलग होने लगता है, षडयंत्रकारी हमें दफन कर विजेताओं की तरह नए अभियान की ओर चल देते हैं-

जब न चल पाओगे / या अलग सोच रखोगे / यहीं दफ़्न किए जाओगे /
दूसरों की तरह / और वे विजेताओं की तरह / तुम्हारे अतीत का /
गुणगान करते / अपने ही शब्दों में / तुम्हें श्रद्धांजलि देंगे /
और फिर सामुदायिक रूप से / जुट जाएंगे निकलने / नए अभियानों की ओर। [13]

आज के समय में स्थितियाँ इतनी भयावह हो गई हैं कि अब लोगों ने डर से भी डरना छोड़ दिया है। यह बात अपने आप में डरावनी लगती है क्योंकि यह लोगों की संवेदनहीनता का परिचायक है। हत्याओं के ब्योरे पढ़ते या देखते हुए उन्हें और ज्यादा सच्चे ब्योरों की माँग होती है। उन्हें ज्यादा खौफनाक, संगीन और रोंगटे खड़े कर देने वाले दृश्यों की माँग रहती है। जैसे यही उन्हें आकर्षित करता है। इसीलिए हत्यारों को देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती है। इतना ही नहीं उन्हें हत्यारों के चेहरे मासूम और खूबसूरत लगने लगते हैं। भीड़ उनका स्वागत जयकारे द्वारा करती है। यहाँ तक कि हत्यारों को लोग अपने घर के भीतर भी आने देते हैं। जैसे उन हत्यारों के साथ जुड़ा खौफ समाप्त हो गया है। कवि 'इस बात का' कविता में कहता है कि-

डर बीती हुई चीज रह गई है अब / और डरने वाले / संग्रहालय में रखे जाएँगे। [14]

अत्याचारी शक्तियों द्वारा उत्पन्न संवेदनहीनता के कारण ही लोगों को अब हत्यारों से डर नहीं लगता लेकिन समाज में ऐसी स्थिति पैदा करना भी इन अन्यायी शक्तियों का षड्यंत्र ही है। वे ऐसा भयहीन वातावरण निर्मित करने के लिए बेखौफ निर्णय लेते हैं। उनके अपने भीतर कहीं डर न पनप जाए, इस डर से वे कुछ न कुछ करते रहते हैं। जैसे शौकिया तौर पर वे कुछ लोगों की हत्याएँ करते हैं तो कुछ लोगों को तड़पते देख कर उन्हें खुशी होती है। कुछ लोग दया माँगने आते हैं क्योंकि उन्हें ये बेखौफ लोग करुणामूर्ति प्रतीत होने लगते हैं। 'बेखौफ लोगों द्वारा' कविता में कवि ऐसे ही डर

पैदा करने वाले लोगों के बारे में कहता है कि-

अपनी निगाह में / सर्वश्रेष्ठ हैं वे लोग / दूसरों पर / आधिपत्य जमाते /
अब वे / डर से नहीं डरते / न किसी दूसरी चीज से। [15]

इस तरह ये डर पैदा करने वाले इसलिए डर पैदा करते हैं कि उनका डर लोगों में बना रहे। इन अन्यायी शक्तियों द्वारा डर पैदा करने के लिए धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिकता का प्रयोग भी किया जाने लगा है। आज के समय में मानव-जाति के सामने धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिक वैमनस्य की यह भावना सबसे बड़ी चुनौती है। यह एक विश्वव्यापी समस्या बन गई है। इस खतरे को कवि बखूबी भाँप लेता है। इसी लिए इसकी तुलना आग से करते हुए 'आग का घर' कविता में वह इसके खतरों के प्रति आगाह करता है। उसके अनुसार यह ठीक है कि अभी मजहबी जुनून बन कर यह आज हमारे घर के करीब है लेकिन यह कब लपलपाने लगेगी, इसका पता नहीं है। यह सांप्रदायिकता की आग पहाड़ पार कर कई देशों की सरहदें फाँदती हुई एवं बर्फ लाँघती हुई आई है फिर भी यह ठंडी नहीं हुई है। चुपचाप पड़ोस में आकर इसने पड़ोस को भस्म कर डाला है। वह पड़ोस जो हमारा दुश्मन है, वहाँ के लोग इससे इतने झुलस गए हैं कि अब हमसे प्यार करने लगे हैं। वहाँ अफवाहों ने कमान थाम ली है और लोग उड़न खटोलों पर बैठकर पहाड़ के पहाड़ पार करते हुए आगबाजी देखने के लिए और सिमट आए हैं। इस आग की ही यह करतूत है कि जिंदगी भर लड़ने वाली औरत मेहरबान हो गई है और सड़क का खूँखार कुत्ता पालतू दुम हिला कर स्वागत करने लगा है। कवि यह संकेत देता है कि इस सांप्रदायिकता ने हीं लोगों में वह डर बैठा दिया है कि लोग आपसी रंजिशों को भूल गए हैं और इसके संभावित हमले से बचने के लिए सभी जातियाँ और धर्म एक हो गए हैं।

कवि को अपनी चिंता उतनी नहीं है, जितनी अपनी स्मृतियों में रहने वालों की है। स्मृतियों मैं बसने वालों की चिंता के बहाने कवि उस विरासत की चिंता करता है, जिसमें परस्पर प्रेम और सद्भाव रहा है, जहाँ आपसी नफरत के लिए कोई स्थान नहीं रहा है। कवि की चिंता इस सांप्रदायिकता के कारण बदल रही मानसिकता के प्रति ज्यादा दिखाई देती है क्योंकि यह आग धीरे से पसर कर सबसे पहले विचारों को ध्वस्त करती है और छोटे-छोटे फतवे मुर्दा बुतों को भी जलाने लगते हैं-

सुनता हूँ / सबसे पहले / कठमुल्ली आग / ध्वस्त करती है /दिमाग। [16]

कवि इस ओर भी संकेत करता है कि यह आग सीने से उछलकर नाखूनों में बस गई है। आग का सीने में होना इस ओर संकेत है कि हृदय की कोमल भावनाएँ बची हुई थीं लेकिन इसका नाखूनों में बस जाना इसके हिंसक होने का संकेत है। टुकड़े-टुकड़े रहने वाली आग अब जगह-जगह बस चली है। यानी वह स्थायी होती जा रही है, बसती जा रही है। जो शीत की तरह शीतल थे, उन्हें भी

यह आग भड़का देती है। अतः कवि उसको उसके घर की ओर लौटाने का निश्चय करता है-

अभी उसने कर दिया है ज्योति को अंधा / अंधा कर दिया अंधेरे को /
लड़खड़ा कर अब / अगर वह यहीं टिक गई / और मिल गई दूसरी आगों के साथ /
तो जलते रहेंगे हम / अनंत तक / शायद जल भी रहे हों / जल ही रहे हैं अभी /
इसी से सोचता हूँ / लौटा दूँ उसे / उसी के घर / जहाँ भी हो।[17]

सांप्रदायिकता के इसी मनुष्य विरोधी आचरण के कारण कवि 'दुश्मनों की सूची' में सबसे पहला नाम ईश्वर का लिखता है। यद्यपि उसके बोध में ईश्वर नहीं है लेकिन वह अस्तित्व में न होने पर भी लोगों की आस्था में बहुत ज्यादा मौजूद है। कवि को आश्चर्य होता है कि दुनियावी बोध में न होने पर भी ईश्वर के नाम और गल्प ने लोगों को पागल किया किया हुआ है। वह मानता है कि ईश्वर की लोकप्रियता हैरत में डालती है क्योंकि वह हर एक के डर में भी है और खुशी में भी। कवि को ईश्वर के ऐसा होने से डर नहीं लगता। वह ईश्वर से इसलिए डरता है कि वह हर एक के लिए उसी के ढंग का हो जाता है। वह कहता है-

जब कभी समूह के लिए / बन जाते हो एक /तब डरता हूँ /
नायाब तरीका है तुम्हारा यह / दूसरों पर हमला करवाने का /
न होने पर भी / मानने ही लगा हूँ कि तुम हो ही /
निरंतर झगड़ों में डालते हो आदमी को / संदेह में /
और फिर शरण में आने के लिए / मजबूर करते हो।[18]

सत्ता के अत्याचारी रूप को एक तरफ पुलिस प्रशासन का साथ होता है तो दूसरी ओर अपराधी तत्वों का संरक्षण। कवि 'पागलपन की दवा' कविता में इसी ओर संकेत करता है कि वर्तमान समय में जिनके हाथ में सत्ता है या जिनके पास पुलिसिया डंडा अथवा जो अपराध में लिप्त हैं, उनका तो पागलपन सुरक्षित है ही पर जो पागल नहीं हैं, वे कुर्सी-दौड़ में शामिल हैं, गार्डों के सुरक्षा घेरे में हैं। उन्हें पागलपन से बचाने के लिए सत्ताएँ बनाई गई हैं। सत्ता की इस दौड़ में आतंकवाद और सांप्रदायिकता महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनका प्रचार अन्य क्षेत्रों में भी हो रहा है। यह पागलपन कुछ और क्षेत्रों में भी फैल रहा है। पागलपन की यह दवा अमेरिका से बरास्ता पाकिस्तान आतंकवादियों और तस्करों के जरिए पहुँच रही है। कवि के अनुसार-

इस सदी में कुत्ते पागल न होंगे / इसलिए कि / पागलपन का वायरस /
यानी कि राम तेल / जादुई तरीके से / छिड़क दिया गया है इस ओर /
जहाँ विश्वविद्यालय हैं / कहवा घर / और बेकार लोग।[19]

आजकल भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति अपना विरोध भी लोग 'ऐसे नहीं चलेगा' कह कर इस तरह व्यक्त करते हैं जैसे मौसम के बारे में कह रहे हों। महँगाई की मार हो या भविष्य की चिंता, हमें लगता है दूसरों ने थोप दी है। हत्या का मामला हो या बलात्कार का या सरकारी योजनाओं का अखबार और पर्दे पर बहुत सारी सूचनाएँ मिलती हैं लेकिन लोग उनका विरोध नहीं करते। कवि 'ऐसे नहीं चलेगा' कविता में सामान्य जन के इस रवैए का विरोध करता है। उसके अनुसार-

'चल रहा है ऐसे ही / लंबे अरसे से / फिर भी हमीं में से /
कह उठेगा कोई / ऐसे नहीं चलेगा /जल्दी में चल देगा ऐसे ही /
अपना बोझ एक वाक्य में उतार कर / सामने फैलाकर।[20]

'आखिरी चेहरा' और 'रोशनी का अंधेरा' जैसी कविताएँ समाज के उस आखिरी आदमी की व्यथा व्यक्त करती हैं, जो नेताओं के सामने अपनी समस्याएँ रखता है लेकिन उसकी कोई सुनवाई नहीं होती। कवि उनकी स्थिति व्यक्त करते हुए कहता है कि नेताओं के सामने रंगीन शरबत परोसे गए। चादर, तकिया, खूब सारा भोजन और लड़कियाँ भी गईं- 'बस न गई तो शर्म / झिझक / न गई यह अमर भूख / इसे यहीं रहना है / हमारे चेहरों पर / ताकि वे कह सकें / बस यही / आखिरी है।'[21]

इसी तरह 'रोशनी का अंधेरा' कविता उन गरीब बच्चों के खत्म होते बचपन की व्यथा प्रकट करती है। गरीब बच्चे झुंड का झुंड नंग-धड़ंग, नंगे पैर खेलते हैं लेकिन उन्हें डर सताता रहता है कि वे ऐसी चीजें नहीं बीन पाएँगे, जिन्हें वे कबाड़ी बाजार में ले जा सकें। कवि अपने भीतर के आदमी को झिंझोड़ कर यह देखने के लिए उठाता है कि इतनी बड़ी जनसंख्या में कितने कम बच्चे हैं, जो स्वाभाविक दबाव से खेल रहे हैं कुछ भी किन्तु उन्हें चिंता है कि अगले पल उन्हें पॉलिथीन की थैलियों में भर-भर कर चीजें ले जानी होंगी, जिनको बेचकर मिला पैसा उनके आसन्न भविष्य का संबल और उम्मीद होगा। कवि को चिंता उनके स्वाभाविक बचपन के खत्म होने की भी है। वह कहता है-'पर खेलना / दौड़ना / खिलखिलाना / यह बचपन कैसे जाएगा / अधेड़पने तक / बिना सहारे।' कवि को अपने भीतर का आदमी हिंदुस्तान के उन लोगों की तरह सोता हुआ लगता है,' जिन्हें नहीं दिखाई देते / खुले में / खेलते बच्चे या भूख नंगई /खुले में / रोशनी में कितना अंधेरा है- ओफ़्फ...[22]

गंगाप्रसाद विमल जी की चिंता सामाजिक जीवन में हो रहे नैतिक पतन, चारित्रिक स्खलन और मूल्यों के ह्रास की और भी है। वह अनुभव करता है कि मुफ्तखोरी और छीना-झपटी की प्रवृत्ति हमारे चरित्र में आती जा रही है। नेता लोग हों या सामान्य व्यक्ति, सभी एक ही नाव में सवार दिखाई दे रहे हैं-

फुर्ती से झपट लेते हैं हम / मौका/ चाहे वह बस की सीट हो /

या मुफ्त का तोहफा / भले ही जरूरत न हो /हम जरूर पिएंगे /मुफ्त का पेय। [23]

कवि के अनुसार इस झपटा-झपटी या मुफ्तखोरी का व्याकरण भी वैसा ही है जैसा नेता लोगों का। बस नेता लोग थोड़े बड़े से आदर्श वाक्यों से लूटते हैं और सामान्य व्यक्ति यह कहते हुए कि 'ऐसे नहीं चलेगा।' इसी तरह 'बाँचता हूँ' कविता उन युवाओं के दुर्भाग्य का बयान करती है, जो प्रतिभाशाली होते हुए भी कुछ भ्रष्ट लोगों के षड्यंत्र के कारण अपना उज्जवल भविष्य बनाने में असफल रह जाते हैं। कवि देखता है कि यह दुनिया तेजी से बदल रही है, जहाँ प्रतिभावान लगातार उपेक्षित हो रहे हैं और षड्यंत्र के बल पर कुछ भाग्यशाली लोग सफल बनते जा रहे हैं। इस बदलती दुनिया को देखकर कवि अपना दुर्भाग्य बाँचता है। उसे लगता है कि इस मूल्यहीन एवं बदलती दुनिया में न तो उसका कहीं पता है और न ही उसकी कोई भागीदारी है। उसके कहे कुछ नहीं होता। भाग्यशालियों की कतार तो दिखाई देती है किंतु उसे लगता है कि यह कतार भीतर ही भीतर रची गई साजिशों से बनी है। वह लिखे और छपे में अपना दुर्भाग्य तो बाँचता ही हैं, वे उसके लिए बेमानी दिखाई देने लगते हैं क्योंकि उनके जीवन मूल्य भ्रष्ट एवं महत्वहीन होते जा रहे हैं। कवि इस बदसूरत वर्तमान से भविष्य के रास्ते का जब हिसाब लगाता है तो उसे अपना भविष्य संघर्ष की सुलगती आग में ही दिखाई देता है-

आँख बंद कर / हिसाब लगाता हूँ / जले होंगे असंख्य प्रतिभावान /
षडयंत्रों की भट्टी में / वही आग दे रही है आँच / आज भी /
इसीलिए तमाम उम्मीदों के बीच / बाँचता हूँ अपना भविष्य / सुलगती आग में। [24]

जिनके लिए भीतर ही भीतर साजिशें रची जाती हैं, ऐसे पिछलग्गू और भाग्यशाली लोगों की कतार देखकर कवि-मन उन पतनोन्मुख जीवन मूल्यों के प्रति वितृष्णा से भर उठता है। इसीलिए वह 'स्तुति' करने में समर्पण या बिकने जैसा भाव अनुभव करता है। वह चाहता है कि सब कुछ अबिका ही रहे- नैसर्गिक और अमूल्य। हम न तो किसी के भी आगे झुकें और न ही स्तुति करें- 'आखिर एक भद्दे समर्पण का अर्थ है/बिछ जाना / और ऐसा होना / मेरे देखे / खुद से हटना है / द्वार बाहर होना है। [25]

पर्वतीय क्षेत्र और वहाँ की प्रकृति से कवि का गहरा जुड़ाव रहा है। इसी गहरे जुड़ाव के कारण उसने पर्वत के अनेक रूप देखे हैं। उसके लिए पर्वत संज्ञा, विशेषण और क्रिया में बदलता रहता है- पर्वत संज्ञा है या विशेषण / पलटने पड़ेंगे व्याकरण के पन्ने / इतनी देर में पर्वत / क्रिया में बदलता है / और पर्वताना स्मृति घेर लेती है नामरूप। इतना ही नहीं, ऋतु के बदलने से पर्वत की क्रियाएँ और गतिविधियाँ भी बदलती नजर आती हैं-

खिलखिलाता है पर्वत बसंत में / और पतझर में / बूँद-बूँद झर कर रोता है घाटियों में

बदल जाता है नाम रूप में / खाली आसमान ताकते / सुबह या दुपहर / या शाम

पर्वत रहता तो वहीं है थिर / पर दृश्यों में / चलता रहता है पल-पल ।[26]

इसी तरह 'पगलाए पर्वत' कविता में पर्वत कवि के सपने में इधर-उधर डोलते हैं। कभी बर्फ झटकाते हैं तो कभी लुकते-छिपते कभी सामने आकर उसे छकाते हैं। जैसा वह है, यानी पर्वत ठेठ ऊँचा, पेड़ों से पटा शिखरो में सफेद हुआ, घाटियों में पनियाला और अपने सपने में पगलाया है पर्वत। इस तरह कवि न सिर्फ पर्वत की विशेषताएँ बताता है बल्कि अपने साथ दुनिया के व्यवहार और उसमें आए परिवर्तन की ओर भी संकेत करता है।

अपने अतीत एवं जड़ों से जुड़ाव गंगा प्रसाद विमल की कविताओं का एक अन्य महत्वपूर्ण भाव-बोध है। कवि को लगता है कि हम लोग जड़ों से बाहर आए हुए लोग हैं, जो अपनी जड़ें गाँव-घरों में छोड़ आए हैं। हम अमरबेल की तरह शून्य में पनप रहे हैं। जड़ों का थोड़ा एहसास हमें कुछ देर के लिए पीछे की ओर लौटाता है फिर हम पाते हैं कि जड़ें खुद विलुप्त हो गई हैं और एक जड़हीन जगत अंतरिक्ष की तरह खोजने पर फैलता जाता है। उसी में हम अपना अतीत, अपनी स्मृतियाँ ठूँस रहे हैं-अतीत के / अनाम कब्रिस्तानों में / दफना आए हैं दादाओं के कारनामे / किस्से और कुछ-कुछ व्यर्थ- से / इतिहास के ब्योरे। हमारा भविष्य, हमारी उम्मीदें और कल भी हमारी आसमानी जड़ों जैसी ही हैं। कभी-कभार जो जड़ें अदृश्य शून्य में फेंक दी होंगी, वहीं से फिर फैलेगी जड़हीन संस्कृति भविष्य के रूपाकारों में- 'जड़ों से बाहर आए लोग हैं हम / फिर-फिर मुड़ते हैं अपनी जड़ों की ओर / और पाते हैं आकाशी सीमांत।'[27]

'पुरानी तस्वीरें' कविता में कवि अतीत से जुड़ता है। वह देखता है कि पुरानी तस्वीरों में उसके पुरखे चित्रित थे। वे पुरानी पोशाकों में सन्नद्ध थे। वे पुराने भले ही थे पर वे स्वजन थे। यद्यपि देखने में अविश्वसनीय लग रहे थे पर थे तो उसके ही पुरखे। उनकी आँखों में चमक थी। अब भी वे तस्वीर में छपने के लिए अतिरिक्त रूप से सजग थे-

यह भी दीख रहा था / दृश्यों के बीच में / ठिठकन भरी किसी उम्मीद से /

बंधे थे वे /अपने समग्र पुरानेपन में / यह तो मैं ही जान रहा था /

कि वे मेरे पुरखे थे / दूसरों के लिए / बीती हुई बात थे वे / पुरानी तस्वीरों में'।[28]

कुछ कविताओं में कवि का भीतरी अंतर्द्वंद्व आध्यात्मिक संदर्भ लिए हुए व्यक्त हुआ है। 'सुवास' कविता में कवि अपने भीतर कस्तूरी मृग-सी भटकन पाता है। यह भटकन उसे मौके-बेमौके दबोच लेती है। यद्यपि वह इससे बचकर दूसरे पड़ावों की तलाश में भाग खड़ा होता है लेकिन उसे लगता है कि यह भटकन भी यही चाहती है कि उन्मुक्ति में भी वह भटकता रहे, भीतर ही भीतर अपने अंतरंग में भटकता रहे। कस्तूरी भटकती है, दिन-ब-दिन खुद से लड़ती है और सुवास का आस्वाद दिगंतों में फैलता जाता है। कवि अनुभव करता है कि उसका मैं भी हार मानने

वाला नहीं है-'अब कोई कहे / गिरफ्त का सिरा कहाँ है जब / वह फैला है चारों ओर / फिर अनंत का / दिगंत से कहाँ होगा मिलना...'[29]

इसी तरह 'जिस शब्द से', 'शून्य' तथा 'जो मूर्तित है' जैसी कविताएँ भी इसी आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत करती हैं। 'शून्य' कविता में बहुश्रुत वेद मंत्र 'ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात पूर्णमुदच्यते' की भाँति कवि शून्य को अपने से बड़ा और स्वयं को शून्य के घेरे में पाता है। यह शून्य कहीं है तो कहीं वजूदहीन अनुभव होता है। कवि स्वयं को भी कभी उस शून्य में कैद और कभी उसी में कैद-मुक्त पाता है। मुक्ति के बाद वह वृहदाकार शून्य में मिल जाएगा। वह स्वयं को शून्य से एकदम अलग मानता है क्योंकि वह पैदा हुआ है और शून्य नहीं। शून्य न दिखने के बावजूद अस्तित्व में है और वह उसमें कैद है। वह शून्य इतना बड़ा है कि कई सदियाँ अपने घेरे में ले सकता है और अनेक सौर-गंगाएँ कैद किए हुए हैं। कवि को उसके अनंत फैलाव में ही अपनी मुक्ति कैद किए हुए हैं।[30]

इन सब के बावजूद कवि जीवन में श्रम की शक्ति और संघर्ष के महत्व को स्वीकार करता है। उसके अनुसार जो लोग दुर्गम पहाड़ चढ़ नहीं सकते, वे निरंतर उसे दुर्गम ही बताते हैं लेकिन बहुतेरे ऐसे मौजूद हैं जो दुर्गम से हर वक्त लड़ते हैं। चाहे चोटियाँ फतह करनी हों या नया कुछ खोजना हो वे निरंतर तत्पर रहते हैं। (पृष्ठ 73) जहाँ संघर्ष की भावना होती है, वहाँ सुखद भविष्य की आशा और उम्मीद होती है। 'अलिखित-आदिखत' कविता में कवि ऐसे ही एक अलिखित और अदिखत सुख की उम्मीद अनुभव करता है। सुख का एक छोटा-सा टुकड़ा भविष्य के आसमान पर टँगा है, जो स्मृतियों से होता हुआ सदियों से आया है। सुख की उस आखिरी इबारत को कवि पढ़ तो लेता है लेकिन अलिखित उसे ललचाता है। कवि कभी न खत्म होने वाले उम्मीद के उस टुकड़े से बँधा अनुभव करता है। (पृष्ठ 53) इस तरह कवि की कविता संघर्ष और उम्मीद जगाती है। कवि को प्रतीत होता है कि कविताएँ भी अगन्तव्य सपनों में बहती हैं। वे कभी अनाकार-अनगढ़ तो कभी तिकोनी-चौकोनी होती हैं। सपनों में दरिद्रता नहीं दिखती। असुरक्षा भी खात्मे पर टिकी रहती है। सपनों से बाहर भी खतरे होते हैं। कविताएँ खतरनाक रास्तों से बाहर जाने का सुराग संकेतों में छोड़ देती हैं। कवि के अनुसार-

इंगित ही कविता है यदि वह / बचाती है / खतरों से / ***XXX*** / कविता कृति / बनती
बिगड़ती है फिर-फिर / सपने में / सपनों में / रचती हुई सपने / सपने से ठिठककर /
शब्दों के अर्थांत में / उगती है भरी रात / युगांत की अंतिम / भोर कविता में। [31]

कवि का आम आदमी से जुड़ाव और उनके जीवन को बेहतर बनाने की प्रतिबद्धता इस संग्रह की कविताओं में साफ दिखायी देती है। इसी लिए कवि उन लोगों से जुड़ना चाहता है जो अपनी छोटी-छोटी खुशी में सबको शामिल करते हैं। वे खेतों में या सड़कों पर काम करते हुए थोड़े में भी

सुख बटोर कर हँसते-हँसते जीवन बिता देते हैं। वे दूसरों की उपलब्धियों से ईर्ष्या नहीं करते बल्कि उसे शिखर मान कर अपनी छोटी-सी उपलब्धि को देख-देख बेहतर कल की उम्मीद में सब्र कर फिर से हाड़-तोड़ काम में लग जाते हैं-

सब कुछ असंभव है / परंतु जीने के एक पल को / संभव करने वाली /
उस जिजीविषा का संस्पर्श सचमुच एक ऐसा जोड़ है /
जिससे कौन नहीं चाहेगा जोड़ना / अपने जीवन के तार। [32]

इस तरह इस संग्रह की कविताएँ जहाँ अपने समय की भयावहता, अन्यायी शक्तियों के बेखौफ निर्णय, सांप्रदायिकता का मानव-विरोधी षड्यंत्र और निरंतर छीजते मानवीय मूल्यों की ओर संकेत करते हुए सकारात्मक दृष्टि प्रदान करती हैं, वहीं कवि के मन में स्थित प्रकृति से लगाव, अपने अतीत और जड़ों से जुड़े रहने की छटपटाहट तथा दार्शनिक रहस्यों को जानने की अकुलाहट भी व्यक्त हुई है। कवि बच्चों के खत्म होने बचपन की चिंता, भूख, और प्रतिभाओं की उपेक्षा के षडयंत्रों आदि समस्याओं की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हुए संघर्ष, आस्था और जिजीविषा की प्रेरणा देने के माध्यम से अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता भी प्रकट करता है। इस प्रयास में कवि की भाषा सीधी, सरल-सहज तथा अपने कथ्य को सम्प्रेषित करने में अत्यंत प्रभावी बन पड़ी है।

संदर्भ :

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादकः डॉ नगेंद्र,पृष्ठ 648, मयूर पेपरबैक्स,1997, 2. विजप,पृष्ठ 9, 3. वही, पृष्ठ11-12, 4. वही, पृष्ठ 13, 5. वही, पृष्ठ 19, 6. वही,पृष्ठ 17, 7. वही, पृष्ठ 17, 8. वही, पृष्ठ 29, 9. वही, पृष्ठ 34, 10. वही, पृष्ठ 35, 11. वही, पृष्ठ 20, 12. अलिखित-आदिखत, पृष्ठ 92, 13. वही, पृष्ठ 92, 14. वही,पृष्ठ 16, 15. वही, पृष्ठ 31, 16. वही, पृष्ठ 14, 17. वही, पृष्ठ 15, 18. वही, पृष्ठ 26, 19. वही,पृष्ठ 77, 20. वही, पृष्ठ 28, 21. वही, पृष्ठ 39, 22. वही, पृष्ठ 47, 23. वही, पृष्ठ 28, 24. वही, पृष्ठ 43, 25. वही, पृष्ठ 66, 26. वही, पृष्ठ 60, 27. वही, पृष्ठ 85, 28. वही, पृष्ठ 87, 29. वही, पृष्ठ 57, 30. वही, पृष्ठ 10, 31. वही, पृष्ठ 32, 32. वही, पृष्ठ 88

सन्नाटे के साए में संवाद करती कविताएँ
'सन्नाटे से मुठभेड़'

डॉ. उषा मिश्रा

दुनिया जिस तेज रफ़्तार से बदलती जा रही है, उसमें अपने 'विजन' को बचाए रखना और जन-जन को उसमें शामिल करना एक रचनाकार और उसकी रचना का सबलतम पक्ष होता है ऐसी ही जनपक्ष धरता के प्रति समर्पित गंगाप्रसाद विमल की एक कविता है–'सुनो /जहाँ तक भी सुन सकते हो /यह आवाज /सुनो / इसे उन आवाजों में न गिनना / जिनसे झरता न हो अर्थ /न इन्हें समझाना चीख /न केवल अर्थहीन आलाप /सृष्टि के किसी भी कोने में/ जहाँ इस आवाज को जानने वाले हों /वे बस /सुनें और इसी में जोड़ दें /अपनी आवाज भी।' (सुनो)

'बोधि-वृक्ष' से अपनी काव्य-यात्रा शुरू करने वाले हिंदी साहित्य जगत के प्रतिष्ठित रचनाकार गंगाप्रसाद विमल अपने चौथे काव्य-संग्रह तक आते-आते 'सन्नाटे से मुठभेड़' करने लगते हैं। वह सन्नाटा जहाँ चारों ओर शोरगुल है- भ्रष्टाचार का, दिखावे का, स्वप्रदर्शन का, एक दूसरे से आगे निकल जाने का वे मुठभेड़ करते हैं उस सन्नाटे से जिसने मनुष्य को सुन्न बना दिया है। जहाँ आवाजें तो हैं पर उसके पीछे भय का सन्नाटा पसरा है।

भवानी प्रसाद मिश्र ने मध्यकालीन राजाश्रयी प्रवृत्ति को दर्शाते हुए वर्तमान यथार्थ की भयावहता का साफ-साफ चित्रण अपने सन्नाटे में किया है। पर विमल जी किस सन्नाटे की बात कर रहे हैं? यह जानना आवश्यक है। भूमिका में वे स्वीकारते हैं कि मुझे नहीं मालूम मैं इस तरह की रचनाएँ क्यों लिखता हूँ? उनके अनुसार इसे तर्क या विश्लेषण से समझा जा सकता है। तो मैं उनके समय को समकक्ष रखकर उनकी कविताओं को समझने का प्रयास इस लेख में करूँगी।

सन 1994 में किताब घर से प्रकाशित कविता संग्रह 'सन्नाटे से मुठभेड' में विविध विषयों से जुड़ी पचपन कविताएँ हैं। कवि और उसके परिवेश पर एक नजर डालते हैं तो पाते हैं कि गंगाप्रसाद विमल अकहानी के प्रवर्तक माने जाते हैं। उसी के आस-पास अकविता आन्दोलन भी चला था और इसके प्रवर्तक जगदीश चतुर्वेदी माने गए हैं। ये दोनों आन्दोलन सन 1960 के बाद चले जहाँ इन आन्दोलनों में प्राचीन परम्पराओं तथा मूल्यों के प्रति अस्वीकृति का स्वर दिखाई देता है वहीं दूसरी तरफ इन रचनाकारों ने अपने समय को व्यक्त करने की ईमानदार कोशिश की है और यह समय था भूमंडलीकरण का, उदारीकरण को जिसका विश्व की राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज पर तो प्रभाव पड़ा ही साहित्य में भी उसकी अभिव्यक्ति जबरजस्त हुई। यह समय साहित्य और समाज में बड़े परिवर्तन का था। इसे स्वीकारने या अस्वीकारने की बड़ी चुनौती साहित्यकार के

सामने थी या तो वे समय के साथ बहते या समय के दायरे में मिट जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार के सामने उनके अस्तित्व का खतरा मँडरा रहा था। ऐसे समय में गंगाप्रसाद विमल का कथन गौर करने लायक है - 'मैं उस कवि को बचाऊँगा जिसके वाक्य जो हैं वो बीजों की तरह हैं, जो वाक्य बीज बचा लूँगा, बाद में खेतों में डालूँगा और वो अपने आप कविताएँ बन जाएँगी। वाक्य बीज पैदा करने वाला जो कवि है, ऐसा नहीं है कि वो ईसा से 2000 वर्ष पूर्व पैदा हुआ होगा। हो सकता है कि अद्यतन जो नया कवि है, वो पैदा हुआ हो। पर इसे मैं इस रूप में रखना चाहूँगा।' स्पष्ट है कि उनकी नजर में बड़ा या शाश्वत माना जाने वाला कवि वह नहीं है जो ब्रांड बन चुका है अपितु वह है जो अपने समय से ताल्लुक रखता हो, जिसकी कविताएँ बदलाव का माद्दा रखती हों, जो अपने समय और समाज के प्रति ईमानदार हो तभी तो उन्होंने एक साक्षात्कार में स्वीकार किया था 'अच्छे कवि, वो तो बच जाएँगे उन्हें मैं दोहराता रहूँगा, इसलिए वो बच जाएँगे। लेकिन कुछ ऐसी चीजें, कुछ ऐसे कवि, जिन्हें बार-बार आप पढ़ना चाहेंगे, वो पैदा होते रहते हैं। जैसे मैं सोचता हूँ कि कालिदास स्मृति में होंगे, कबीर स्मृति में होंगे, गालिब काफी लोगों की स्मृति में होंगे। लेकिन जो बच जाए वहाँ से, बचाना चाहिए और मुझे ये लगता है कि जो नए लोग काम कर रहे हैं, उन्हें बचाकर रखना बेहद जरूरी होगा। क्योंकि वे नए बीज हैं, उनसे नई चीजें आगे पनपेंगी। इसलिए इसमें यही कहूँगा कि जो अच्छी चीजें होंगी, स्मृति में बची रहेंगी और जो न बच पाएँगी, न रह पाएगी स्मृति में, उन कागजों को ले जाने में मैं गुरेज न करूँगा और उसमें नए कवियों को ले जाऊँगा।'

कहने का तात्पर्य यह हो सकता है कि कवि के अनुसार समाज में बदलाव लाना, उसे सही दिशा निर्देशित करना, सामाजिक दायित्वों के प्रति प्रतिबद्ध होना, किसी भी रचनाकार की पहली जिम्मेदारी होती है। चाहे वह नया कवि हो या स्थापित कवि हो और ऐसा तभी हो सकता है जब उसकी रचनाएँ किसी घटना की त्वरित अभिव्यक्ति न होकर या लम्बी रचना प्रक्रिया से गुजर कर आकार प्राप्त की हो। संग्रह की पहली ही कविता 'पराजय' में उनकी रचना प्रक्रिया ही स्पष्ट होती है - 'कभी / जब कुछ भी नहीं होता /न पराजय का बोध न आवेग /न विस्मृति से कुरेदने का आभास / तब / निर्भरता अपने पंख फैला / तर्क और शास्त्र के उदाहरण से / आश्वस्त करती है /विराटता के समक्ष / लघुता की निरर्थकता।' उनका मानना था कि रचनाएँ जब पुरजोर तरीके से अपना प्रभाव नहीं छोड़ती तो उसके रचने का कोई अर्थ नहीं होता। हर रचना की सार्थकता और नैतिकता अपने समय की होती है क्योंकि हर सदी का अपना सच होता है। व्यर्थ के प्रदर्शन और प्रचार से रचनाएँ सार्थक नहीं बन सकतीं। वे सार्थक बनती हैं तो अपनी सम्पूर्ण नित्यमयता में - 'शब्द अगर पत्ते हैं /तो अर्थ जड़ें नहीं हैं /सम्पूर्ण नित्यामयता से / जोड़ कर देखने पर ही / शायद सब कुछ / बदलेगा / अतीत जैसा भविष्य भी।' (कविताएँ और मूर्खताएँ) विमल जी के अनुसार रचना का उद्देश्य व्यापक होना चाहिए बाजारीकरण के कारण अब शब्दों पर भी संदेह होने लगा है। वे शब्दों

से आग्रह करते हुए कहते हैं - 'आओ-आओ / ओ प्रकम्पित ध्वनि लहरों / जीवाष्म को / दो सम्पूर्णता / दो / व्यक्तियों से / परे है जो।' (खिड़की पर) शब्द तभी महत्वपूर्ण बनते हैं जब वे एक चित्र उंकेर पाते हैं,पाठक के ह्रदय को संवेदना से भर देते हैं या उसके मस्तिष्क को झकझोरते है। अन्यथा वे आडम्बर मात्र बनकर रह जाते है। इतना ही नहीं शब्दों के अर्थ में अनुगूंज को भी वे जरूरी मानते है। वे मानते हैं कि घटनाएँ स्मृतियों की मंजूषा में बंद होकर या खुलकर प्रतिक्रिया या क्रिया के रूप में आती है और यही प्रतिबद्ध प्रतिक्रियाएँ ही पाठकों के माध्यम से समय को दिशा निर्देशित कर सकती है।

रचनाकार जब अपनी कविता को मुहिम की तरह देखता है तो उसकी प्रतिबद्धता अपने समय और समाज के लिए गहरी हो जाती है। धीरे-धीरे बढती संवेदनहीनता मानवता के लिए घातक बनती जा रही है। रिश्तों, संबंधों और विश्वासों में टूटन बढती जा रही है। दिन-पर-दिन अपराधियों की संख्या में बढ़ोत्तरी होती जा रही है। इतना ही नहीं अपराधी सफेदपोश बनते जा रहे हैं। समय की भयावहता का हाल यह है कि हत्यारे जब हत्या करके आते हैं या बलात्कार करके आते हैं तो उन्हें किसी भी तरह का पछतावा तो होता नहीं है अपितु वे शौर्य गाथाओं की तरह अगले मौके की तलाश में ताकते नजर आते है। कवि पूरी सदी के कुचक्रों को चित्रित करते हुए कहता है कि इस युग में निरंतर युद्ध होता रहा, सामूहिक हत्याकांडों से युग पटा रहा, क्रांति में भी हिंसा का नरमेघ चलता रहा और शांति में हिंसा का तांडव होता रहा। कवि के शब्दों में देखिए–'ओ मेरी सदी,/अपनी यात्रा पूरी करते हुए भी /जैसे तुम / भ्रांतियों को जनम देकर /लगता है पृथ्वी में / हर गली- मोहल्ले से /चाहती हो अपने शिकार /देखो-देखो कहा नहीं हो रही है /हत्या, आगजनी, बलात्कार...' (ओ मेरी सदी) इन घटनाओं के पीछे सत्ताधारियों का बड़ा योगदान रहता है। विश्वास करने से पहले ही वारदातों को अंजाम दे दिया जाता है। इनकी यात्राएँ निरंतर चलती रहती हैं ... 'अपने तमाम दरवाजों को बंद रखने के बावजूद /शुरू हो जाती हैं यात्राएँ / अपने किसी निर्धारित अंत से / अनिर्धारित रूप में' (यात्राओं के अंत) अब विकट परिस्थितियों में अपनों को पहचानना दुष्कर हो जा रहा है जिन्हें हम अपना समझते हैं पता चलता है कि हमारे सपनों के तोड़ने में उनका सबसे अधिक हिस्सा था। हत्यारों की भीड़ में ये अपने हत्यारों के रूप में सबसे पहली पंक्ति में खड़े दिखाई देते हैं। दूसरों के दुःख पर आँसू बहाने वाले कब खूँखार रूप धारण कर लेते हैं पता ही नहीं चलता - 'खूँखार चेहरों पर / उन्होंने पहले अपरिचय लपेटा /फिर नारों से उन्होंने /प्यार / और अभिवादन धकेले /और निपट अकेले /उन्होंने बूटस की तरह / निहत्थे वार किये।' (अपने ही थे वे) इन अपनों के बदलाव के पीछे दो बातें हो सकती हैं पहला, अवसरवादी हो जाना और दूसरा, मजबूरी का फायदा उठाने के लिए लालच दिखाकर अवसरवादी बना देना। तथाकथित विकासवाद के दौर में असत्य, झूठ तो अपना जाल फैला ही रहा है अपनी गर्वोक्ति के कारण अन्य समदर्शी अंधेरों से सम्बन्ध बनाकर सत्य, उजाला भी वर्तमान और भविष्य को अधिक अन्धकारमय बनाने के लिए

तत्पर है। इन स्थितियों का कारण मनुष्य का वैज्ञानिक उपकरणों के प्रति अधिक आकर्षण भी है। ऐसे में मनुष्य के पास एक ही रास्ता बचता है कि वह अपने समय के प्रति, उसके बदले हुए रूप के प्रति व्यक्ति सचेत रहे। कवि इस सत्य को मानने से कोई गुरेज नहीं करता कि वर्तमान समय की विसंगतियों, उससे उपजी पीड़ा को कोई भी आंकड़ों में नहीं बता सकता। इसे जानने के लिए नए गणितज्ञ, नए मापदंड बनाने होंगे। क्योंकि उसकी जरूरतें, इच्छाएँ आतंक और मायावी छल द्वारा बंधक बना ली गयी है। अपने समय को सही दिशा न देने पर कवि स्वयं को असहाय महसूस करता है और फिर ईश्वर की शरण लेता है और प्रार्थना करता है कि जो कुछ भी चौतरफा घट रहा है वह थोड़ा मानवीय हो जाए ... 'मसलन कि सारा मानवीय ज्ञान /अतीत में रचा गया सब कुछ /जब व्यावसायियों के हाथ में आ जाय /मैं उसके लिए प्रार्थनाएँ करता हूँ / उनमें विवेक जागे /और सबमें' (प्रार्थनाएँ) समय के इस प्रवाह में टूटना तो निश्चित है पर कवि चाहता है कि उस टूटन में भी कुछ ऐसा हो उसमें भी कुछ सुरक्षित बचा रहे बाजारीकरण के दौर में पृथ्वी और मनुजता को बचाए रखने के लिए वह निरंतर प्रयत्नरत रहता है। कवि बीसवीं सदी के अँधेरे के इतिहास की अपने वंशजों से करते हुए कहता है कि मेरे पास न तो मेरे पूर्वजों के वृत्तान्त है और न ही उनके साक्ष्य-'मैं छोड़ता हूँ / सदी के अँधेरे का /इतिहास /प्रमाण के रूप में /क्या स्वीकारोगे तुम /ओ मेरे वंशजों /अगली सदियों के /न सही तुम जैसा विवेक /फिर भी हम रहे /आदमी बनने की कोशिश में /डरे-डरे संघर्षरत/यही तो कहना है तुम्हें /बने रहना बस/ होंगे तुम्हारे बाद भी /अनेक / उन्हें भी यही देना रोशनी।' (संबोधन) तात्पर्य यह कि आज अनेक संघर्षों के साथ मनुष्य का एक बड़ा संघर्ष आदमी बनने की कोशिश हैं। हर पीढ़ी अपने अनुजों को, भावी पीढ़ी को वर्तमान संस्कार, रीतियाँ, नीतियाँ सौपना चाहती है ताकि वह पूर्वजों की और अपनी पीढ़ी की सकारात्मकता को अग्रगामी पीढ़ी को दे सके।

समय की भयावहता कम होने का नाम नहीं ले रही है अपितु बढ़ती ही जा रही है ऐसे में बुद्ध के सिद्धांत अपनाने होंगे,उनकी भाषा को समझना होगा और उसे जन-जन तक पहुँचाना होगा। संग्रह में कवि की कई कविताएँ बुद्ध के प्रति समर्पित है। युद्ध और अशांति की बचैनी से कवि उबर नहीं पाता। 'हेमिस की संध्या' कविता में कवि अपनी मौन अशांति को व्यक्त करता है। हेमिस, वह मठ है, जो लेह के दक्षिण-पूर्व दिशा में लगभग 45 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। शांति का प्रतीक यह मठ एक शांत जगह में स्थित तो है पर चारों तरफ अशांति फैली हुई है, जिसके कारण रचनाकार भी बेचैन है। उसका अंतर प्रश्नों से भरा हुआ है–'क्यों हो तुम शांत /जबकि दुनिया /अपने घिनौनी /अशांति में / चल रही है चाहे /किसी दिशा में ।' वह स्तूप से प्रश्न करता है कि बाहर से शान्ति भले ही दिखाई दे रही है पर यह भी सच है कि हर शांति अपने भीतर बहुत कुछ कैद करके रखती है, जो कभी भी खरतनाक स्थिति का कारण बन सकती है। मनुष्य का यह स्वाभाविक गुण है कि हर तरह से निराश हो जाने पर वह ईश्वर की शरण लेता है। उन्हीं से गुहार करता है और

जन को आवाहन करता है कि वह पुनः उन्हीं के सिद्धांतों को अपनाकर अपने आप को समय के चंगुल में दबोचे जाने से बचाए।

परिवर्तन जीवन है वर्तमान को अतीत बनना ही होता है भविष्य के लिए हम भले ही कोई बड़ा काम न कर पायें पर बीत जाने का श्रेय हर किसी को मिलता है प्रकृति भी इससे अछूती नहीं है इसीलिए तो फल झाड़ता है, पर्वत ढहता है आज जो कुछ भी है, जैसा भी है, उसे कल में बदलना ही है यही प्रकृति का नियम है। विमल जी का जन्म हिमालय की गोद में बसे उत्तर काशी में हुआ था। उनकी रचनाओं में प्रकृति के प्रति मोह भी है और उसे बचाने की बेचैनी भी। हम सभी जानते हैं कि विकासवाद के नाम पर सबसे ज्यादा दोहन प्रकृति का ही हुआ है। यद्यपि इस संग्रह में प्रकृति से सम्बंधित अधिक कविताएँ नहीं हैं पर जो हैं वे अपनी अभिव्क्ति में बहुत ही सार्थक हैं प्रकृति का हर रूप जीवनदायी होता है। वृक्ष के माध्यम से विमल जी ने लिखा है कि बिना अंगों के भी वह इंसान को, सृष्टि को प्राणतत्व देता है। बिना पाँव के अपनी जड़ों के माध्यम से धरती के नीचे जाकर उससे संवाद स्थापित करता है। कवि के शब्दों में -'तुम्हारे पास वह सब कुछ है / जो हमारे पास नहीं / तुम वह भी हमें देते हो /और थकते नहीं हो।' (वृक्ष) कविता अभिधा में होते हए भी अभिव्यक्ति की क्षमता को प्रारम्भ से अंत तक बनाये रखती है। इसी तरह का भाव भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं में भी देखा जा सकता है।

'पावस' कविता में मानवीकरण के माध्यम से विमल जी ने वर्षा ऋतु का बड़ा मनभावन चित्रण किया है। हर ऋतु की दोपहर का अपना मिजाज होता है। कभी उसके आने का इंतजार होता है तो कभी उसके जाने का बेसब्री से इंतजार होता है और यदि वह वसंत ऋतु हो तो कहना ही क्या? यह ऋतु रचनाकार की रचनाओं के लिए भी अनुकूल होती है ... 'रंगों में छप जाती हैं कहानियाँ /और कविताएँ लटक जाती हैं टहनियों पर/ उन्हें चुपके से कोई नीचे उतारता है..।'(दोपहर की ओर) विमल जी ने इस कविता में बिम्बों और अलंकारों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। 'खिड़की से हरियाली' कविता में भी पेड़ के सौन्दर्य और उसकी उपयोगिता का सारगर्भित चित्रण है। पेड़, पेड़ की हरियाली,पट्टी का विकल्प बनकर उस पर बैठी चिड़िया पूरे वसंत का आभास कराते हैं। हर मौसम में पेड़ एक तरफ मानव के आकर्षण का केंद्र होता है तो दूसरी ओर हर प्राणी को छाया प्रदान करता है हवा और पेड़ का सुन्दर सामंजस्य भी इस कविता में देखा जा सकता है.....'हवा धीरे-धीरे बढ़कर /जोरों से /पेड़ों को हिलाती /टहनियों को /दुलराती /वैसे ही ऊब कर/ खिसक जाती है/तब जानते हो /पेड़ हँसता है।'

संग्रह की कई कविताओं में नियतिवाद को भी स्थापित किया गया है। हर किसी को वह सब कुछ नहीं मिलता जिसकी वह चाह करता है। यह जितना सत्य है कवि उतना ही सत्य उसे बनाना भी चाहता है कि जितना मिले उसे ही पूर्ण मान लेना चाहिए–'मैं जिसे पाना चाहता था /वह /निर्माता ने गढ़ा ही नहीं / अपनी कल्पनाओं में /रच-रच कर अंत में /मैं उसे भूल गया /जो भी

मिला /उसी में सोचा यही है/पूर्णता का /प्रथम और / अंतिम सोपान।' (आधे का पूरापन) नियति के प्रति स्वीकारोक्ति को कवि जीवन में सुकून की कुंजी मानता है। जीवन को सहज गति से चलायमान होने के लिए कवि संवाद को भी बहुत महत्वपूर्ण मानता है। उसकी सनातनता के महत्व को स्थापित करते हुए कवि कहता है कि - 'खुले रखना द्वार /जैसे कभी हवा ने कहा था /मैं आऊँगी शीत लेकर /ग्रीष्म के पिछवाड़े / कहा था स्मृति ने /खुले रखना गवाक्ष/ अतीत की विस्मृति /गाथाओं को लेकर /मैं आऊँगी /धूप-छाँव की तरह..' (संवाद) संवादों से अनेक गुत्थियाँ और गाँठे खुल जाती हैं जो जीवन को सहज गति देने में बहुत सहायक होती हैं। कवि इस बात पर पूरी तरह से यकीन करता है कि समय और भाग्य से परे कुछ भी नहीं होतो कवि एक व्यापक दृष्टि के साथ रचता है और अपनी इस दृष्टि को पुष्ट करने के लिए वह कई कविताओं में आत्मनिरीक्षण करता दिखाई देता है। इस आत्मनिरीक्षण में वह पाता है कि दूसरों के समक्ष हम अपनी जो छवि बनाते हैं अन्दर से वैसे नहीं होते अपने लिए हम बेहद कमजोर और बेबस होते हैं। संभवतः अन्दर से बाहर की इस आवाजाही में ही रचना के बीज पड़ते हों।

विमल जी अपने कथ्य या विषय के प्रति जितने सहज, सामान्य और गंभीर होते हैं, उसकी प्रस्तुति के प्रति भी उतने ही संजीदे हैं। बात किसी भी शैली में कही गयी हो या जिस भी शब्द शक्ति का प्रयोग कविता में किया गया हो, बनावट से उसकी दूरी निरंतर बनी रहती है। अपनी बिम्बात्मकता और प्रतीकात्मकता में रचनाएँ पाठक के मन में बस जाती हैं। ऐसा तभी संभव होता है जब रचनाएँ गहन अनुभूतियों में पगी होती हैं और रचनाकार के पास शब्दों और शैलियों का व्यापक भंडार हो। 'बोधिसत्व के देश में' कविता में कवि जिस तरह मानसरोदक एवं उसके परिवेश का चित्रण करता है उससे पाठक के समक्ष पूरा बिम्ब उभर आता है - 'पर्वत स्तब्ध /हिम पंक्तियाँ जैसे इबारत हों /सत्य की /उस शिखर पर या /या इस शिखर पर /जहाँ भी पहुँचाना नामुमकिन है /वही हो तुम।' स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढती कविता पूरे बिम्ब के साथ पाठक के समक्ष प्रस्तुत होती है। 'बहुत दिनों से' कविता पढ़ते समय नागार्जुन की कविता 'बहुत दिनों बाद' याद आ जाती है। वहाँ अकाल का दृश्य उभरता है यहाँ डर,भय, आतंक, मौसम (जलवायु परिवर्तन) और जीवन की आपाधापी में मनुष्य का स्वयं को भूलते जाने की पीड़ा आँखों के सामने झूलने लगती है। समय की जटिलता के साथ कवि बिम्ब उभारने में सफल हुआ है - 'तब कहीं से कोई चिड़िया /शाख पर बैठ /बन जाती है पत्ती का विकल्प /पलभर के लिए ही सही /एक झूठे आश्वासन के रूप में /वसंत तैर आता है।'(खिड़की से हरियाली) 'वह जो अक्सर मुझे याद आता है' कविता में बिम्ब की पूरी लड़ी दिखाई देती है।

प्रतीकों का प्रयोग भी संग्रह की कविताओं में प्रभावी तरीके से हुआ है। शीर्षक कविता 'सन्नाटे से मुठभेड' कविता में सन्नाटा दुःख,तनाव के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुआ है तो 'घोड़ों को मालूम न था' कविता में घोड़ा प्रतीक है उस जनता का, बुद्धिजीवियों का और प्रशासकों का जिनका दुरुपयोग

सत्ता पक्ष समय-असमय अपने हित के लिए करता रहता है। 'पावस' कविता में बिम्ब ,प्रतीक और अलंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपमा अलंकार का एक सुन्दर उदाहरण 'खिड़की से हरियाली' कविता में; जहाँ टहनियों की तुलना लड़कियों के बालों से की गयी है, देखिए ---'शिखर टहनियाँ/ छोटे-छोटे झबरीले बालों वाली / लड़कियों की तरह / हिलती हैं.... यहाँ पर अहेतानाता पर चेतनता का आरोप भी देखा जा सकता है।' उनके व्यक्तित्व की तरह भाषा की सहजता का अपना सौन्दर्य है। 'भविष्य' कविता में कर्म और भाग्य को बड़ी सरल भाषा में परिभाषित किया गया है - 'किसान जोतता है खेत/पढ़ते हैं बच्चे /एक भावी माँ / आसमान को देख / प्रार्थना करती है /सभी भविष्यजीवी हैं / भविष्यजीवी हैं/ भविष्य जो आएगा /उसे रोक नहीं सकता कोई।'

निष्कर्षतः 'सन्नाटे से मुठभेड़' संग्रह की कविताएँ अपने समय के समाज की कुप्रवृत्तियों से जूझते हुए साहित्य को, साहित्य के पाठकों को और उनके माध्यम से समाज को अपने वक्त से रूबरू तो कराती ही हैं, साथ ही रचनाकार अपने व्यापक एवं उदात्त विजन से साहित्य को शाश्वतता प्रदान करते हुए समृद्ध करता है।

एसोसिएट प्रोफेसर

श्रीमती मणिबेन एम.पी.शाह विमेंस कॉलेज

ऑफ आर्ट्स एंड कॉमर्स, माटुंगा, मुंबई

संपर्कन. 9821371828

विमल की सहजानुभूति : 'मैं वहाँ हूँ'

- डॉ. सत्यवती चौबे

बहुमुखी प्रतिभा संपन्न डॉ. गंगाप्रसाद विमल हिंदी साहित्याकाश के सुप्रसिद्ध साहित्यकार, दक्ष अनुवादक, अकहानी आंदोलन के प्रणेता, कुशल प्रशासक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निदेशक एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा केंद्र के अध्यक्ष थे। इनकी समृद्ध लेखनी से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, अनुवाद कुछ भी वंचित नहीं रहा, जिनकी संख्या दर्जनों में हैं। इन्होंने अपने कुशल नेतृत्व में देश के तमाम प्रतिष्ठित संस्थानों में अपनी शैक्षणिक, साहित्यिक एवं प्रशासनिक सेवाएँ दी हैं, जिसके लिए इन्हें समय-समय पर देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठित सम्मानों से सम्मानित किया गया।

कुछ दिनों पहले मैं गंगाप्रसाद विमल का एक साक्षात्कार पढ़ रही थी, जिसमें उनसे जब यह प्रश्न पूछा गया कि 'वे कौन-सी रचनाएँ होंगी जिन्हें मुश्किल दिनों में आप सुरक्षित रखना चाहेंगे' तो उनका जवाब था- 'मैं उस कवि को बचाऊँगा, जिसके वाक जो हैं, वो बीजों की तरह हैं। वो वाक बीज बचा लूँगा, बाद में खेतों में डालूँगा और अपने आप वो कविताएँ बन जाएँगी। वाक बीज पैदा करने वाला कवि जो है, ऐसा नहीं है कि वो ईसा से 2000 वर्ष पहले पैदा हुआ होगा। हो सकता है कि अद्यतन जो नया कवि है वो पैदा हुआ हो। पर इसे मैं इस रूप में रखना चाहूँगा'। गंगाप्रसाद विमल के इस वाक्य से उनके प्रति आस्था और बढ़ गई क्योंकि उनके ये वाक्यांश दर्शाते हैं कि वे उन साहित्यकारों या विद्वानों के समान नहीं हैं जो भावी पीढ़ी के साहित्य में कमियाँ गिनाने में लगे रहते हैं, वरन वे अकेले ऐसे रचनाकार हैं जो भावी पीढ़ी में अखंड विश्वास और आस्था रखते हैं, उन्हें महत्ता प्रदान करते हैं।

गंगाप्रसाद विमल की रचनाएँ ही नहीं, अपितु उनका संपूर्ण व्यक्तित्व युवाओं के साथ-साथ चोटी पर विराजमान साहित्यकारों के लिए भी प्रेरणास्रोत है। उनका व्यक्तित्व हिमालय के समान ऊँचा, विराट और निर्मल था, ग्लेशियर के समान शीतल था, तो वहीं नदियों के समान गहरा, अविरल प्रवाहित था। प्रकृति के समान उदारता, सौम्य व्यवहार और सरल-सहज मुस्कान से वे सबको अपना बना लेते थे। ऊँची पदवी, देश-विदेश में राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान-सम्मान, पुरस्कारों से सम्मानित होने के बावजूद वे दंभ-अभिमान से कोसों दूर थे। वे जितने मिलनसार थे, उतने ही मृदुभाषी भी थे। उनके व्यक्तित्व मेंअनेक विशिष्टताएँ थीं, परंतु उनमें सर्वश्रेष्ठ होने का अभिमान लेश मात्र भी नहीं था।

उनका अंतर्मन पूर्णतः हिमालय की प्राकृतिक छटा को, हिमालय की गोद में बसे अपने पुश्तैनी गाँव को समर्पित था। कर्मक्षेत्र में अध्ययन-अध्यापन के लिए इन्हें भले ही गढ़वाल, ऋषिकेश, इलाहाबाद, यमुनानगर, पंजाब, हैदराबाद, दिल्ली आदि स्थानों पर रहना पड़ा परंतु इनका मन रमता था हिमालय की सुंदर वादियों में बसे अपने गाँव में ही। शहरीय या नगरीय जीवन यापन करते हुए भी हृदय में अपने गाँव को बसाए हुए थे, उसकी स्पष्ट झलक उनकी जीवनशैली में देखी जा सकती थी और उससे बिछुड़ने की टीस से उपजती थीं उनकी कविताएँ। समय के परिवर्तन चक्र में न गाँव पहले जैसा रहा, न संबंध पहले जैसे रहे, परंतु गंगाप्रसाद विमल की अंतर्रात्मा में बचपन की वही यादें बसी हुई थीं, जो उन्हें बार-बार कुरेदती थीं, जिन्हें इनके सन 1996 में किताबघर प्रकाशन से प्रकाशित काव्य संग्रह 'मैं वहाँ हूँ' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

'मैं वहाँ हूँ' काव्य संग्रह में कुल 53 कविताएँ संकलित हैं। ये कविताएँ इस तथ्य की साक्ष्य हैं कि किस प्रकार कवि की स्मृतियों की निजता धीरे-धीरे अपना अर्थ विस्तार करती हैं और तत्कालीन समाज की सार्वजनिक चिंताओं के रूप में अपनी वास्तविकता को प्रकट करती हैं। इनकी कविताएँ 'मनुष्य के भीतरी संसार की प्रतिछवियाँ हैं। उनमें वर्तमान का खौफ भी है तो अतीत का सातत्व भी। जो वर्तमान की निर्मिति का सहयोगी उतना नहीं है जितना वर्तमान और अतीत को जानने का सहभागी है। ये कविताएँ एकांत कविताएँ नहीं हैं, बल्कि मनुष्य के सनातन अंधेरे में रोशनी की टोह से जुड़ी हैं। बीसवीं शताब्दी के सघन अंधेरे ने उजाले की प्यास ज्यादा उत्कट रूप में जाग्रत की हैं। कुछ-कुछ उसी उत्कटता को वाणी देने का उद्यम हैं ये कविताएँ.....' ('मैं वहाँ हूँ' काव्य संग्रह के फ्लैप से) इस काव्य संग्रह की सभी कविताओं का अध्ययन करने, चिंतन-मनन करने के पश्चात पूरे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ये सभी कविताएँ 20वीं सदी के सघन अंधकार को उद्घाटित, व्याख्यायित करते हुए उजाले की प्यास को अत्यंत उत्कटता से वाणी प्रदान करती हैं।

'मैं वहाँ हूँ' काव्य संग्रह गंगाप्रसाद विमल की ऐसी रचना है जिसमें संचयित सभी कविताएँ भिन्न-भिन्न विषय-वस्तुओं पर केंद्रित हैं। कहीं-कहीं ऐसा आभास होता है कि इस कविता की किसी अन्य कविता से थोड़ी साम्यता है परंतु कविता के आखिरी पड़ाव पर पहुँचते-पहुँचते वह कुछ और अर्थ ही व्याख्यायित करती है। इस काव्य संग्रह की पहली कविता है- 'बस कुछ ठहर कर' जिसमें कवि जीवन से दुखी, संतप्त लोगों को प्रोत्साहित करते हुए, जीवन में सुख-दुख के फलसफा को समझाते हुए सब्र करने और किस्मत के खुलने की प्रतीक्षा करने को कहता है। भाग्योदय होने पर जीवन के सभी संताप, भूख, हड़कम्प समाप्त हो जाएँगे। अखबार के बड़े-बड़े शीर्षकों में सुर्खियों में छाए रहने वाले महान नेता अपने वायदों के साथ घोड़े पर सवार होकर

आते हैं और अदृश्य हो जाते हैं। आम आदमी की दशा आमरण यथावत बनी रहती है। ऐसे में बस कुछ ठहर कर सब्र करने की आवश्यकता है। आम जनता जब अपनी परिस्थितियों से तंग आकर रोजगार के लिए शहर की ओर पलायन करती है तो इससे उत्पन्न एक नई समस्या उसे घेर लेती है। रोजी-रोटी के जुगाड़ में भले ही उन्हें शहरोन्मुखी होना पड़े परंतु उनकी अन्तरात्मा गाँव में बसती है। उनके मन की व्यथा मजबूरी में सिमट कर रह जाती है, परंतु गाँव के घर की अनंत शून्यता, सुनसान घर की व्यथा, वहाँ की आबोहवा मानो चीख-चीखकर अपने बच्चों के कहकहे, किलकारी को पुकारते हुए कहती है कि बच्चों, अब लौट आओ। प्रकृति या जलवायु परिवर्तन की मार भी यह घर झेल लेगा, परंतु अपनों के बिना घर का खालीपन नहीं सहा जाता। प्रतीकात्मक तौर पर यह पुकार निःसहाय बुजुर्गों की भी करुण आर्त्तनाद है जिसे मुखरित करते हुए कवि विमल अपनी कविता 'बच्चों लौट आओ' में लिखते हैं-

'बियाबान चीखता है / लौट आओ / शून्य का पसरा अनंत
नादहीनता में चिल्लाता है /लौट आओ बच्चों लौट आओ'

आने-जाने और लौटने का क्रम आजीवन चलता रहता है। मनुष्य जन्म के साथ ही एक अनंत यात्रा पर निकल पड़ता है। उसे पता नहीं कि जाना कहाँ है लेकिन बचपन से ही इधर-उधर भटकते हुए एक-दूसरे से आगे निकल जाना चाहता है। उसे लगता है कि दूसरे लोग अपनी बातों में यहीं रहते-रहते एक दिन नष्ट हो जाएंगे जबकि हम इस यात्रा में अनष्ट बने रहेंगे। इसी भाव को दशार्ती है कविता 'यात्रा'। आध्यात्मिक दृष्टि से पड़ताल करके हम कह सकते हैं कि यह कविता इस भाव को भी दशार्ती है कि इस अनंत यात्रा में भटकता नश्वर शरीर एक दिन नष्ट हो जाता है जबकि आत्मा अजर-अमर बनी रहती है। कुछ इसी भावबोध की गहरी अंतर्दृष्टि से अनुप्राणित कविता है 'बतियाते हैं पेड़', जिसमें भौतिक जीवन जगत की फिलॉसफी समग्रता से परिलक्षित होने के साथ ही यह भी दशार्ती है कि जीवन में शीर्षस्थ पर विराजमान व्यक्ति नितांत अकेला रह जाता है, जिसके चारों तरफ शून्यता, एकांकीपन का गहरा आभासीय चक्र-सा बन जाता है, एक ऐसी शून्यता, जिसकी न तो कोई शुरुआत है न ही कोई अंत। यह कविता अपने आप में अनेक गहरे अर्थबोध से संपन्न है। इन तमाम कविताओं का स्रोत कौन है, कहाँ है इस तथ्य को कवि गंगा प्रसाद विमल अपनी कविता 'कविता के स्रोत' में अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं, जहाँ उन्होंने स्वीकार किया है कि कविता का उद्गम-स्थल एक पावन तीर्थ स्थल के समान है, जहाँ तक पहुँचने का मार्ग दुर्गम-दुरूह है,जहाँ लंबी-लंबी प्रतीक्षा प्रयास और सच्ची सहृदयता की गहन अनुभूतियों के माध्यम से पहुँचा जा सकता है। इसकी एक बानगी-

'हम नहीं हो सकते / कविता का स्रोत / इसीलिए खुद से खुद तक पहुँच

नहीं सकते/ यह तो किसी का पहुँचना है / व्यतीत की प्रतीक्षा में....'

कवि की सच्ची सहृदयतापूर्णगहन अनुभूतियाँ विविध भावबोध के धरातल पर जहाँ कविता के स्रोत की तलाश करती हैं तो वहीं वह आमआदमी के जीवन संघर्ष को यथावत देखकर देश के प्रशासनीय व्यवस्था के प्रति अत्यंत क्षुब्ध, निराश, दुखी हो जाता है क्योंकि वह अहसास करता है कि देश का विकास आम जनमानस से कोसों दूर है। जनहित के लिए जारी तमाम शासकीय व्यवस्थाओं का परिणाम शून्य है तो वहीं आम जनता की उम्मीदों का नतीजा भी शून्य है। इसी भाव को दशार्ती है कविता 'बच रहेगा' की कुछ पंक्तियाँ-

'सब कुछ /गिनकर देखने के बाद / जोड़ में सिर्फ शून्य हासिल हुआ
अब मैं तुम्हारे शून्य की / कल्पना में/अपना शून्य शामिल करता हूँ'

कवि का मानना है कि व्यवस्था में शामिल लोग सब कुछ पहले से ही हासिल कर चुके हैं। अब उनके लिए कुछ भी हासिल करने की आवश्यकता नहीं है, इसलिए हमारे द्वारा किए गए प्रयास व्यवस्था के आगे शून्यवत हैं। कवि को लगता है कि सारा हिसाब करने के बाद आम आदमी के लिए सिर्फ शून्य ही बच रहेगा अर्थात उसकी स्थिति जस की तस बनी रहेगी। इसी स्थिति को बयान करती विमल की एक और कविता है 'बहुत फर्क नहीं पड़ा', जिसमें कवि ने पूरी बेबाकी से यह दशार्या है कि देश में विकास के नाम पर होने वाले आमूलचूल परिवर्तनों के नाम पर शहरों-कस्बों की जीवन-शैली को छोड़कर देश के अंदरूनी हिस्सों के जनमानस के जीवन में बहुत फर्क नहीं पड़ा है। उनकी जिंदगी गुजर-बसर करने के लिए आवश्यक मूलभूत जरूरतों से संबंधित चिंताएँ, समस्याएँ, जुगाड़ की जिंदगी का अनवरत संघर्ष दुःख जस का तस बना हुआ है; बस इस आशा-विश्वास के भरोसे पूरी-पूरी जिंदगी निकल जाती है कि एकदिन जीवन में सब कुछ अच्छा होगा। लेकिन इन तमाम विषम परिस्थितियों की गहरी समझ, गहन अन्वेषण कवि को व्यग्र बना देती है। उनका हृदय कंपित हो उठता है कि कहीं वक्त से पहले चुनाव-वर्षा-भूकंप की स्थिति से आम जनता की दशा और अधिक बद से बदतर न हो जाए। विपत्ति की मार झेलते जनमानस की दशा कवि को और अधिक उद्विग्न बना देती है, जहाँ एक ओर तो वह तमाम दुखों के बोझ तले संतप्त वर्ग को देखता है तो वहीं दूसरी तरफ दूसरे वर्ग को जो एकदम बेफिक्रपन से आनंदपूर्वक जीवन यापन करते दिखायी देता है। इसकी एक बानगी-

'हुआ सब कुछ है वर्षों में / चुनाव-वर्षा-भूकंप / न जाने क्यों पहले न आए कुछ से/
जैसे डरता था / ठीक वैसे ही अंदर-अंदर काँपता हूँ....'

कवि गंगा प्रसाद विमल की आत्मा पहाड़ों में बसती है। वे शिक्षा-दीक्षा, रोजगार के

कारण भले ही देश के विभिन्न हिस्सों में नियुक्त थे, परंतु वे हृदय से अपने पर्वतीय प्रदेश में ही रहते थे। बल्कि यूँ कहें कि पर्वत ही उनके मन में रहता था। इस तथ्य को साक्ष्य बनाती है उनकी कविता 'पर्वत वहीं रहता है' जिसमें वे कहते हैं-

'पर मेरे एकांत को / वह चलायमान अचल / मथता है बेतरह /
जो भी हो / जहाँ भी रहता हो / वह मुझी में रहता है'

कवि पर्वत को कविता का प्रेरणास्रोत, जीवन की समग्र ऊर्जा मानता है जो उसके हृदय को प्रायः उद्वेलित करता है, भाव-विह्वल करता है। 'धूप तापती पहाड़ियाँ' कविता में भी कवि ने पर्वतीय प्रदेश का चित्रण, विभिन्न ऋतुओं में पर्वतों में होने वाले बदलावों का बहुत सजीव चित्रण किया है। इनकी ये दोनों कविताएँ पहाड़ के प्रति कवि के आत्मीय लगाव, प्रेम की परिचायक हैं।

'ऋचाएँ' कविता इस काव्य संग्रह की अंतिम कविता है जिसमें कवि प्रकृति के तमाम उपादानों मसलन, हवा, बादल, आकाश, अंतरिक्ष और दिशाओं से आग्रह करता है कि वे उसे शहर के अकेलेपन-खालीपन से निकालकर पहाड़ों का वह संस्पर्श करा दें। इसलिए वह उनसे आग्रह करते हुए कहता है-

'बादल /तुम तानते हो मंडोपा / कभी-कभी घेर लेते हो मुझे
हिमालय को भी /एक ही घर के नीचे बँध जाते हैं /एक ही घेरे में
रिश्ते के अपनेपन/वही जल बरसाओ मेघ/जिससे अभिषेकित है पर्वत'

यह कविता कवि के पहाड़ों के प्रति, अपनी जन्मभूमि के प्रति अतिशय लगाव, प्रेम की पराकाष्ठा को उद्घाटित करती है और कवि की बेचैनी को दशार्ती है। 'आश्वस्ति' कविता आत्मीय संबंधों की गर्माहट की बात करती है। आज दांपत्य जीवन समेत सभी संबंध आपसी टकराहट से तार-तार हो रहे हैं। संबंधों की ऊष्मा समाप्त होने लगी है। ऐसी परिस्थिति में कविविमल का मानना है कि हृदय में संबंधों के प्रति ऊष्मा, सच्चा लगाव, प्रेम, आत्मीयता का भाव बने रहना, उनको निभाना अति आवश्यक है क्योंकि समय के साथ-साथ चिट्ठियों समेत सारी तस्वीरें धूमिल पड़ जाती हैं परंतु संबंधों को निभाने की आश्वस्ति, तसल्ली हमारे जीवन को सार्थक बना देती है। अतः कवि व्यर्थ समय ना गंवाकर अविभक्त भाव से एक दूसरे के करीब आने, संबंधों को इतना मजबूत, गहरा और प्रगाढ़ बनाने की बात कहता है जिसे दो लोग मिलकर भी न तोड़ सकें। कविता का दृष्टांत कुछ इस प्रकार है-

'पर वह भाव/ जो कामना के सिरे से/ उभरेगा/ उसमें होगा तुम्हारा अंकन

जो निःशब्द चुम्बनों से / दीक्षित होगा/ जन्म जन्मांतरों के लिए'

संबंधों के प्रति सजग और गहरी संवेदना रखने वाले कवि गंगा प्रसाद विमल 'माँ' कविता में अपनी संवेदनात्मक अनुभूतियाँ व्यक्त करते हुए कहते हैं-

'घर तुम ही हो माँ / और तुम नहीं हो तो/ सारी दुनिया में/ कोई घर नहीं'

कवि इस तथ्य के प्रति पूर्णतः अडिग है कि घर ईंट, खिड़कियाँ, शैय्या, सजावट के साजो-सामान से नहीं बनता, बल्कि घर तो सिर्फ और सिर्फ माँ से बनता है। माँ के बिना घर का कोई अस्तित्व नहीं है। कवि विमल जीवन की क्षणभंगुरता, नश्वरता और अनिश्चितता को गहराई से समझते हुए अपनी कृति 'आकस्मिक' में यह दर्शाते हैं कि-

'ब्रह्मांड में नियम है नियत/ कुछ भी/ आकस्मिक नहीं'

यह कविता दर्शाती है कि ब्रह्मांड में सब कुछ नियम से, नियत रूप से चलता है। जन्म-मृत्यु कभी आकस्मिक नहीं होता,अपितु वह भी नियत है। आकस्मिक प्राप्ति को किस्मत मानकर प्रमुदित होना भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं, क्योंकि वह भी पहले से ही नियत है, तय है, सुनिश्चित है। इस सृष्टि में आकस्मिक कदापि कुछ नहीं होता, ऋतु परिवर्तन भी नहीं। बसंत ऋतु के आगमन से कवि के मनःपटल पर पहाड़ी प्रदेश की प्राकृतिक छटा, बसंत ऋतु का सौंदर्य पूर्णतः आच्छादित हो उठता है, उन स्मृतियों को वह आजीवन विस्मृत नहीं कर पाता। शहर में रहते हुए वह उस प्राकृतिक सौंदर्य की छटा, उसकी दीवानगी-रवानगी को भूल नहीं पाता। शहर में रहने वाले शहरी बसंत ऋतु की विशिष्टताओं से महरूम हैं, वंचित हैं, अनभिज्ञ हैं, उदासीन है। परंतु कवि-मन उस दृश्य को पुनः दर्शन करने, उन्हें आत्मसात करने के लिए तड़प उठता है। वह अतीत के पन्नों में खो जाता है। मन की यह छटपटाहट,मन की यह आग एकांत में अपने आत्मीय संस्पर्श से भविष्य और अतीत को जोड़ती है और बसंत ऋतु की प्राकृतिक सुषमा में खोया कवि-हृदय और अधिक सघनता से अपने आत्मीय जनों के प्रति अनुरागात्मकता से भर उठता है। बसंत ऋतु के प्रति कवि की बेचैनी को दशार्ती कविता 'कामदास की आत्मगाथा' की कुछ पंक्तियाँ इस तथ्य को प्रमाणित सिद्ध करती हैं-

'और वह खड़ा है पहाड़ / अमराइयों के सहारे / उसने थामे हुए हैं हाथों में फूल/
पीले बैगनी / नारंगी फूल/ ठीक वहीं से उसी वक्त /
आग लगी थी जो/ अभी तक नहीं बुझ पाई'

मनुष्य की अभिलाषा असीमित है। कवि इस जीवन सत्य को अपनी रचना 'निवास' में दशार्ते हुए लिखता है-

'जो कुछ दूसरों को मिला/ उससे थोड़ा भिन्न / और हो ज्यादा/ लगे कि जो कुछ है वह

दूसरों के पास नहीं/ इसे बताना या व्यक्त करना/ नामुमकिन है। असंभव'

ये पंक्तियाँ इंगित करती हैं कि संसार में अपने निवास को लेकर मनुष्य जाति में असंतोष की भावना सदैव बनी रहती है। निवास के लिए वास्तव में मनुष्य की इच्छाओं को परिभाषित करने या बताने वाले शब्द भी नाकाफी हैं; तो वहीं उसे जो कुछ नहीं मिला, उसे बताना भी असंभव है। यह मनुष्य की फितरत है कि जो कुछ दूसरों को मिला है उसे उससे थोड़ा भिन्न और ज्यादा मिले। जो किसी को भी न मिला, वह उसे असीमित मात्रा में मिले। वास्तव में चाहत के लिए यह मुमकिन और मिलने के लिए अवास्तविक है। कवि स्वयं को ऐसे घर का निवासी मानता है। भावबोध के धरातल पर कविता यह बखूबी समझाती है कि वास्तव में मनुष्य जैसा निवास चाहता है, वह वास्तव में कभी उसे नहीं मिलता। विभिन्न परिस्थितियों के कारण उसे अपना निवास बदलना पड़ता है, निवास को लेकर समझौता करना ही पड़ता है। मसलन; कवि पहाड़ों पर नैसर्गिक सौंदर्य के बीचोंबीच भले ही अपना निवास बनाना चाहता है परंतु उसकी परिस्थितियाँ, उसकी इस चाहत को असंभव, नामुमकिन बना देती हैं, इसलिए कवि स्वयं को अवास्तविक घरों का निवासी मानता है। कुछ इसी भाव को मुखरित करती है कविता 'मैं वहाँ हूँ'। यह कविता अपने आपमें इस संपूर्ण काव्य संग्रह को समाहित किए हुए है, जिसके आधार पर ही इस काव्य संग्रह को 'मैं वहाँ हूँ' संज्ञा से अभिहित एवं सम्मानित किया गया होगा। दरअसल यह कविता कवि के गाँव के प्रति मोह, लगाव, जुड़ाव को ही नहीं दशार्ती, बल्कि कवि के समान ही करोड़ों-करोड़ों की संख्या में रोजगार के लिए गाँव को छोड़ कर शहर की ओर पलायन कर चुके जनमानस की भी आपबीती है जिसमें वह जीविकोपार्जन हेतु रहता तो शहर में है परंतु उसकी आत्मा उसके आत्मीय गाँव में ही बसती है। शहरों में सोते हुए अपने गाँव को स्वप्न में देखता है। सपने में जागकर शहर में अपने गाँव को तलाशने की कोशिश करता है और निराशाजन्य पीड़ा से भर उठता है। वह दुविधाग्रस्त स्थिति में है कि वास्तव में वह कहाँ है,कहाँ का रहकर हो गया है ? वह तड़पकर कह उठता है-

'इन दो सत्यों के बीच / सपने की भटकन-सा/

भटकता हूँ मैं/ मैं कहाँ सच हूँ / वहाँ / कि यहाँ....'

'मैं वहाँ हूँ' कविता का सूक्ष्म अध्ययन हमें यह सोचने पर विवश कर देता है कि आत्मचिंतन से संबंधित तमाम प्रश्न, अपने अस्तित्व-अस्मिता से जुड़े अनेक सवाल, अपने यथार्थ बोध को कुरेदते हजारों प्रश्न, जहाँ एक तरफ हमारे होने की सार्थकता पर विचार मंथन करने हेतु प्रेरित करते हैं तो वहीं दूसरी ओर जीवन से संबंधित अनगिनत सवाल भी खड़े करते

हैं, समस्याओं-संघर्षों से जूझने पर विवश करते हैं और नकारात्मक झंझावातों का सामना करते हुए अपने जीवन के होने के अर्थ को ढूँढ ही लेते हैं। अंततः पूरा जीवन चक्र उसी 'मैं' को केंद्र में रखकर चारों ओर उसके चक्कर लगाता है और उस 'मैं' को वहीं होने पर आत्मसंतुष्टि प्रदान करता है, जहाँ वह वास्तव में रहना चाहता है, जिसकी गोद में जाकर उसको सुकून मिलता है। शायद यही कारण रहा होगा इस कविता के संदर्भ में; जिसके आधार पर इस काव्य संग्रह का नामकरण हुआ होगा 'मैं वहाँ हूँ'।

'मैं वहाँ हूँ' कविता के तर्ज पर ही आधारित एक और कविता है 'मैं जहाँ हूँ' जिसमें कवि नगरीय जीवन की व्यस्तता भरी भागती-दौड़ती जिंदगी के बीच में स्वयं को ढूँढना चाहता है। अपनी पहचान ढूँढने के लिए वह आदमी को नगर और खुद को पहाड़ मानकर उन्हें शून्य में एक दूसरे की जगह पर बैठा देता है। शहर में वह रेगिस्तान में भटकती मृगतृष्णा के समान भटकता हुआ महसूस करता है कि वह जहाँ से शुरू होता है वहीं खत्म हो जाता है क्योंकि उसके हृदय में तो सिर्फ पहाड़ों की स्मृतियाँ ही विराजमान हैं। वह जहाँ है वहाँ से उन अनुभूतियों को कदापि नहीं लौटा सकता। वह जहाँ है, वहीं से अपनी हर यात्रा शुरू कर उस आदि विंदु तक लौटकर पहुँच जाता है, जिन पहाड़ी प्रदेशों की अविस्मरणीय स्मृतियाँ उसे नगरीय जीवन में व्यग्र बना देती हैं, वह अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए उद्विग्न हो उठता है। वह जहाँ रहता है, वहीं रहते-रहते अपने पहाड़ों की यात्रा पर निकल जाता है। उसकी ये पंक्तियाँ दशार्ती हैं-

'यहीं से शुरू करता हूँ/ रेगिस्तान की ओर/ भटकते। मृगतृष्णा में/ मैं जहाँ हूँ/
वह यही तो है/ यह जगह/ जहाँ से शुरू होता है और/खत्म/मेरा शहर/खत्म होना
ही है/शुरू हुई चीज/जैसे पहुँचती है नदी/ हवा/ औरआदमी की इच्छा गंतव्य तक'

'यकीन करो चाहे न' कविता भी गाँव के प्रति कवि हृदय की व्यग्रता को दशार्ती है। गाँव का सौंदर्य अब शहर में रह रहे कवि के लिए अमूल्य अतीत व इतिहास के पन्ने बन चुका है, लेकिन वह पल-पल उन्हीं स्मृतियों के सहारे जीता है चाहे कोई यकीन करें या न करें। कवि की उद्विग्नता भी निराधार नहीं है। उसकी अपनी वजहें हैं जिन्हें वह अपनी कविता 'बेघर' में दर्शाते हुए कहता है-

'नगर की आबोहवा में/ वह एक पौधा/ बेरंग पड़ता जा रहा है/
वह पौधा/ स्वयं उठकर / चला आया था/ खुद को/ रोपने के लिए/
आज अपने ही हाथों खुद को/ खबर दे रहा है
कि नगर की आबोहवा/ बाहर के पौधों के लिए/ अनुकूल नहीं'।

कविता में वर्णित पौधे की उपमा देश के उन तमाम युवाओं से दी गई है जो कम उम्र में ही अपने गाँव की सोंधी मिट्टी, आबोहवा को छोड़कर शहरोन्मुखी होकर जीविकोपार्जन हेतु प्रयासरत होते हैं। शहरों में आकर एक पौधे के समान खुद को अपने हाथों रोपते हैं, लेकिन कुछ ही समय में उन्हें खुद ही अहसास हो जाता है कि नगर की आबोहवा, वहाँ का परिवेश उनके अनुकूल नहीं है। नगर के कब्रिस्तान की आबोहवा भी बाहर से आए लोगों के अनुकूल नहीं, क्योंकि वहाँ मौजूद जिस स्मृतिलेख को पढ़ा भी नहीं जा सकता; वह स्मृतिलेख निकट ही आराम कर रही आत्मा को विदेशी करार देती है। जो लोग शहरों में जाकर बस गए और चिरविश्रांति में चले गए; उनको भी बाहरी ही समझा जाता है। यहाँ कवि के मन में शहर के प्रति मोहभंग की स्थिति है। यंत्रवत नगरीय जीवन के प्रति निराशा है तो वहीं गाँवों की ओर लौटने की मूक गुजारिश है। इस कविता में गाँवों की ओर लौटने की मूक गुजारिश करते हुए कवि, गाँव की इस कड़वी सच्चाई से भी भलीभाँति वाकिफ है कि आज के जीवन की आपाधापी में गाँव भी अब पहले जैसा नहीं रहा, लाख कोशिश के बावजूद रिश्ते अब पहले जैसे नहीं रह गए और न ही रिश्तों को निभाने की ललक रह गई है। गाँव से शहर और शहर से गाँव तक का सफर उसे एक अनाम गंतव्य-सा प्रतीत होता है, जिसे स्पष्ट करते हुए वह अपनी कविता 'अनाम गंतव्यों की ओर' में लिखता है-

'विचित्र/ स्मृति का विराट कूड़ाघर/ अपनी पगडंडियों का / अहसास देता है
जब-तब / राजमार्गों की दुर्घटनाएं/ फिर से फिर फिर से चलने के लिए
उकसाती है अनाम गंतव्यों की दिशा.....'

कवि को पलायनवाद के इस दौर में गाँव-घर की स्मृतियों का एक विराट कूड़ाघर शहर के राजमार्ग वाले सफर से कहीं अधिक प्रिय है। राजमार्गों की दुर्घटनाएँ शहरी जीवन की विसंगतियाँ-विडम्बनाएँ शहर से मन को उचाट देती हैं और मन बार-बार गाँव की पगडंडियों की तरफ लौट जाना चाहता है। जाने-आने-लौटने की इस सतत प्रक्रिया को कवि जीवन यथार्थ की दृष्टि से देखते हुए अपनी कविता 'शतरंज' में लिखता है-

'मोहरा बदलते हुए/ कितनी चीजें बदलकर/ नई तस्वीर बना जाती हैं और वह
बदलते हुए सोचता है कि खुद/ उसी के बदलने से/
विजय या पराजय का/ निर्णय हुआ'।

यह कविता विमल की राजनीतिक चेतना की सूक्ष्म विवेचना करते हुए स्पष्ट करती है कि शतरंज का मोहरा बदलते ही तस्वीरें बदल जाती हैं। मोहरे को लगता है कि उसी के बदलने की वजह से परिस्थितियाँ बदली हैं। जबकि परिस्थितियों के बदलने का निर्णय काल करता है या

उसे भी काल के निर्णय का शिकार होना पड़ता है कहा नहीं जा सकता है, बाकी न होने वाली चीजें भी उससे जुड़ती चली जाती हैं। कुछ लोगों के फैसले के कारण यह क्रम अनवरत चलता रहता है और आम आदमी बस मोहरा बनकर रह जाता है। कवि गंगा प्रसाद विमल की कविता 'नंगे पाँव' में भावी पीढ़ी के बच्चों को लालन-पालन-पोषण-परिवेश-शिक्षा-दीक्षा से जुड़ी तमाम चिंताएँ अभिव्यक्त हुई हैं। वे मानते हैं कि बच्चों के नंगे पाँव चलते हुए हर पदचाप का अपना एक अर्थ होता है जिनके चाँद तक पहुँचने के लिए शून्य के पद सेतु गढ़ना ही पड़ेगा, तभी उनकी ख्वाहिशें पूरी हो सकती हैं। इस काव्य संग्रह की कविता 'कुछ तो है' नन्हीं-सी कविता है परंतु गूढ़ अर्थ रखती है। कविता दर्शाती है कि हर व्यक्ति के पास कुछ न कुछ है। जिसके पास कुछ नहीं है उसके पास भी बहुत कुछ है। कुछ प्राप्त करने के प्रयास में यदि कुछ भी हासिल नहीं होता तो भी हमारे पास हमारा प्रयत्न, कोशिश, मेहनत, अनवरत लगे रहने का प्रयास तो है ही।

'इधर से खुले दरवाजे' कविता में कवि ने संसार की स्वार्थपरता की ओर इंगित करते हुए दर्शाया है कि खुले दरवाजे से हवा नैसर्गिक रूप से निष्प्रयोजन कमरे के अंदर आती है ताकि हर शून्यता को भर सके। ऐसा सिर्फ प्रकृति ही कर सकती है मनुष्य नहीं। वह बिना प्रयोजन के कभी कहीं नहीं जाता। वह दूसरों के जीवन की शून्यता भरने नहीं जाता; अपितु अपनी शून्यता भरने, अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के प्रयोजन से ही कहीं जाता है। यह प्रयोजन कुछ भी हो सकता है चाहे वह वक्त काटने के लिए या अपना अहं प्रदर्शन करने के लिए। उदाहरणार्थ-

'कुछ भी हो सकता है मसलन / वक्त कटी/ या अहंकार प्रदर्शन / दोनों मिले-जुले हैं
दरवाजे और शून्य की तरह / प्रयोजन और निष्प्रयोजन की तरह'।

गंगा प्रसाद विमल की कविता 'जल्दी-जल्दी' आज की प्रतिस्पर्धात्मक युग का साक्षात्कार करवाती है, जिसकी होड़ में मनुष्य अपने जीवन के उद्देश्य प्राप्ति हेतु तेज गति से कदम बढ़ाता है परंतु गंतव्य तक पहुँच कर उसे अहसास होता है कि उसे अभी बहुत दूर जाना है। उसे लगता है कि-

'लगता है मेरी जगह/ कोई और चल रहा है/ कोई और पहुँच रहा है/ और मैं एक
गलत जगह पहुँचकर/ पछतावे में हूँ/ यह मैं हो ही नहीं सकता'।

कविता का भाव यह है कि मनुष्य अपनी अभिलाषाओं, महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है परंतु अपने गंतव्य पर पहुँचने के बाद वहाँ की तमाम विसंगतियों-विकृतियों को देखकर अफसोस, पश्चाताप करता है और उसके मन का असंतोष उसे और अधिक गतिशीलता प्रदान करता है ताकि वह जल्दी-जल्दी अपनी मनचाही जगह तक पहुँच सके।

'शांति के विरुद्ध एक कविता' में कवि अपने अनुभवों के आधार पर मानता है कि सदियों से

बोलते आदमी को चुप कराने की साजिश होती रही है। सदियों से शांति स्थापना हेतु दो देशों के बीच संधि-वार्ता में वक्त व्यतीत होता रहा है; जबकि हर निर्माण हिंसा से जुड़ा है, चाहे वह बाड़ की सुरक्षा हो या फिर प्रतिरक्षा में तनी हुई बंदूक हो। वह आगे कहता है-

'अगला कदम/ जब भी उठेगा/ अंत में वह धरती को कुचलेगा/ और आगे और आगे
कुचलता हुआ ही बढ़ेगा/ चाहे नेपोलियन हो या हिटलर या कोई और'

यहाँ कवि भारत देश ही नहीं, अपितु वैश्विक पटल पर छाई युद्ध की विभीषिकाओं की ओर इंगित करते हुए देश को सजग करता है तो वहीं 'वंशधर' कविता में यह स्वीकार करता है कि अतीत के हमारे वंशजों की तुलना में आज का जीवन किसी युद्ध से कम नहीं, आत्ममुग्ध जीवन में मनुष्य पहले से कहीं बड़ा हत्यारा बन चुका है, पराजित-सा महसूस करता है।

'प्रश्नों से घिरे प्रश्न' कविता में कवि के भीतर सदियों से अनेक प्रश्नों से घिरे प्रश्नों की लंबी श्रृंखला है जिनका प्रत्युत्तर वह पाना चाहता है। ये प्रश्न भाले की तरह चुभकर उसे आहत करते हैं और उसे लगता है कि यदि जीवन में इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला तो उसका जीवन व्यर्थ है। कविता की ये पंक्तियाँ कहती हैं-

'यही यदि नियति है / तो भीषण अगति है/ प्रश्नों के भाले में
घिरे हुए आहत की/ यही यदि नियति है/ तो फिर शेष बचा ही क्या
जनने से पलने तक/ पलने से खटने तक'।

इस काव्य संग्रह में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिनमें कवि की रचनाधर्मिता, कवि-कर्म के प्रति निष्ठा, प्रतिबद्धता का भाव द्रष्टव्य है। मसलन; 'कुछ आगे रहता हूँ' कविता में कवि अत्यंत दृढ़ता के साथ कहता है कि कल्पनाशीलता और दूरदृष्टि के कारण वह उन तमाम लोगों की सोच के आगे रहता है जिसके विषय में कोई सोच भी नहीं सकता, कल्पना भी नहीं कर सकता। वह कहता है-

'जिस मोड़ पर/ आगे रास्ता नहीं/ मैं उससे आगे रहता हूँ'

'लिखता हूँ' कविता दशार्ती है कि अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के दौरान कवि की मनःस्थिति क्या होती है, उन्हें किन-किन अंतर्द्वंद्वों से गुजरना पड़ता है। कई बार वह जिस विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति जैसा करना चाहता है, वैसा नहीं कर पाता। लिखने के बाद उसे अनुभूति होती है कि जो लक्षित था वह उसमें नहीं है। उसने लक्ष्य से परे कुछ और ही सृजित किया है।

विमल की कविता 'जो भी लिखता हूँ' उनकी रचनाधर्मिता, रचनाशीलता के प्रति ईमानदारी को प्रतिबिंबित करती है जिसमें कवि ने स्वीकार किया है कि वह अपने जीवन में जो

भी गँवाता है, उसी को अपना विषय बनाता है और उसको लिखने की पीड़ा से ही ताकत पाता है। वह जो कुछ भी लिखता है अपनी अतीत की स्मृतियों तथा अनुभवों को आधार बनाकर ही लिखता है जो कभी उसके जीवन का सबसे अहम हिस्सा था। चाहे वह किसी व्यक्ति विशेष की खास यादें-बातें हों, खेतों में फूले हुए पीले फूल हों, पर्वत पर जमी बर्फ हो या फिर रास्ते पर उड़ते धूल हों। वे आज भले ही यथावत-यथास्थिति में न हों परंतु कवि की स्मृतियों में आज भी मौजूद हैं, जिनके साथ उसने बरसों समय बिताया,वे वक्त के साथ-साथ तमाम रिश्ते-नाते, रास्ते सच-झूठ के चक्कर में टूट गए, भूल गए। आज नए रिश्ते बनते ही नहीं। ऐसे में जीवन के खालीपन की स्थिति में कवि रहना नहीं चाहता और वह कह उठता है-

'मैं अपने खालीपन से/ उस खालीपन को/ जो रूहानी हो गया/
भरता हूँ / और लिखता हूँ वही/ जो सृष्टि में है/ और स्मृति में'।

इस तरह वह अपनी स्मृतियों के माध्यम से ही अपने रीतेपन-खालीपन को भरता है। देश में व्याप्त तमाम विसंगतियों-विद्रूपताओं-कुव्यवस्थाओं के प्रति कवि-हृदय बहुत कुछ लिखना चाहता है लेकिन जब कुछ नहीं लिख पाता तो वह आक्रांत, क्लांत मनःस्थिति को अपनी रचना 'जब कुछ लिखा नहीं जाता' कविता में रूपायित करते हुए कहता है-

'व्यर्थ नहीं है कुछ ना लिखा जाना/ इसलिए कि आज लिखा जाने से बेहतर है/
चुप रहना/ कल शब्दों की जगह/ चुप्पी के हथियार सदी को चीरेंगे'।

कविता दर्शाती है कि चुप्पेपन की आक्रामकता इतनी तीव्र है कि उसका अर्थ चहुँओर प्रतिध्वनि हो रहा है। 'जानना चाहिए' कविता में कवि कथनी और करनी में सामंजस्य बनाए रखने का आग्रह करता है तो वहीं 'मैं और सृष्टि' कविता में कवि मानता है कि मैं अर्थात अनंताक्ष के अस्तित्ववान होने के कारण ही सृष्टि संज्ञावान है। 'अंधेरे के बीज-2' कविता भारतीय संस्कृति में आयी आमूलचूल परिवर्तनों तथा अपसंस्कृति की पीड़ाजन्य भावानुभूति है।

गंगाप्रसाद विमल की कविता 'बरसात न भी हो' एक अत्यंत मर्माहत करने वाली कविता है, जिसमें कवि देश की तत्कालीन राजनीतिक फैसलों से, भारत देश का सिर अमेरिका की चरणों में पड़ा देखकर अत्यंत आहत है, क्षुब्ध है। कवि मानता है कि गाँव का ग्रामीण भी, बरसात नहीं होने पर भी गर्मियों में छाता लेकर ही चलता है क्योंकि वह मानता है कि सुरक्षा की तैयारी में आदमी ज्यादा सुरक्षित है। लेकिन देश के बड़े-बड़े नेताओं की गैर जिम्मेदाराना निर्णय, लचर प्रशासन, पतनोन्मुखी अर्थव्यवस्था और अदूरदर्शी नीतियों, राजनैतिक निर्णयों,असफल विदेश नीतियों आदि ने मिलकर देश की प्रतिष्ठा के साथ-साथ आवाम के साथ खिलवाड़ करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया, विपत्ति आने के पहले कोई पूर्व-योजना नहीं बनायी, सतर्कता

नहीं बरती। वैश्विक पटल पर भारत की दुर्दशा कवि से देखी नहीं जाती। वह कह उठता है-

'पिछली सदी/ गुलामी की लड़ाई में थे/ इस सदी अपने सिर हम दूसरों के पाँव पर
मिलाने को मजबूर थे/ साहित्य में यह नहीं तो आश्चर्य। यही है। यही है।'

इस तरह, यह कविता चंद पंक्तियों में भारत की तत्कालीन राजनीति और अर्थव्यवस्था को रूपायित करती है। विमल की रचना 'पुनर्जन्म' जहाँ मनुष्य के जीवन चक्र को दशार्ती है तो वहीं 'दो ध्रुवों के बीच' कविता संसार की नश्वरता को अभिव्यक्त करती है। 'मिट्टी की पोशाक' कविता मिट्टी से बने शरीर की निर्मिति से लेकर मिट्टी में मिल जाने की पूरी प्रक्रिया की पड़ताल करती है। 'कृतज्ञता' कविता में कवि तमाम विपरीत परिस्थितियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है जिसने उसे इंसान बनाए रखा है।

अंततोगत्वा, 'मैं वहाँ हूँ' काव्य संग्रह का अनुशीलन करने के उपरांत यह कहने में कोई गुरेज नहीं है कि कवि गंगा प्रसाद विमल एक उत्कृष्ट कोटि के साहित्यकार हैं। इनकी रचनाएँ पहाड़ों पर बिताए अपने अतीत की स्मृतियों से होते हुए, नगरीय जीवन की विडंबनाओं तथा वहाँ से निकलकर वैश्विक पटल पर भारत की स्थिति की गहरी पड़ताल करती हैं। इनकी रचनाएँ कवि की रचनाधर्मिता के प्रति प्रतिबद्धता, उनकी पारखी नजर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवन दृष्टि और यथार्थ के प्रति ईमानदार अभिव्यक्ति को मुखर स्वर प्रदान करती हैं। पहाड़ की खूबसूरत वादियों की१ स्मृतियाँ, अपने जन्मभूमि की सोंधी माटी की यादें कवि को शहर में रहते हुए भी पूर्णतः अपनी ओर आकृष्ट किए हुए हैं, व्याकुल किए हुए हैं, जिसकी झलक अधिकांश कविताओं में द्रष्टव्य है। इन कविताओं में विषय-वैविध्यताओं के साथ-साथ कवि के कहन की शैली में भी वैविध्यता है। प्रायः सभी कविताएँ मनुष्य के सनातन अंधेरे में रोशनी की टोह लेने से जुड़ी हुई हैं, जहाँ स्मृतियों की निजता अपना अर्थ विस्तृत करती है तो वहीं सार्वजनिक चिंताओं, संकटों के प्रति भी अपना पक्ष दृढ़ता से, ईमानदारी से और वास्तविक रूप में उद्घाटित करती हैं। निष्कर्षतः इस काव्य संग्रह की सभी रचनाओं का सारतत्व कवि गंगा प्रसाद विमल को वर्तमान हिंदी काव्य जगत में पहली पंक्ति के कवियों की कोटि में सन्निहित करता।

- अध्यक्ष, हिंदी-विभाग
विल्सन महाविद्यालय गिरगाँव, चौपाटी, मुम्बई

पाँच तत्वों की यात्रा पाँच इंद्रियों तक

- डॉ. सुधा उपाध्याय

हमारी भीतरी व बाहरी दुनिया की पड़ताल करती हुई 'खबरें और अन्य कविताएं' गंगा प्रसाद विमलजी का प्रयोगधर्मी काव्य-संकलन है। पाँच तत्वों से ही बना है समूचा ब्रह्मांड और उन्हीं में तिरोहित होता है हमारी पाँच इंद्रियों से उपजा समूचा ज्ञान। वस्तुतः भीतरी व बाहरी दुनिया को संचालित करता है यह ध्यान और ज्ञान। सूचना व क्रांति के नए संजाल ने मीडिया के तेवर बदल दिए। रूप, रंग और रंगत सब कुछ नया-नया और उद्घाटित, प्रसारित और प्रचारित करने के नए-नए प्रतिमान गढ़े जाने लगे। कौन, कब, क्या, कहाँ और क्यूँ, आज हमारे न केवल मन और प्राण को बल्कि देश दुनिया और समाज को भी संचालित कर रहे हैं। उदाहरण देखें–

अब ध्वनियाँ नहीं वे न संकेत /वे चित्रों के मार्फत छप रही हैं सपनों में /
सपनों में एक गुरार्ते वक्त को देख /नवजात सहम गए / सहम गई पीढ़ियाँ

यह सतत यात्रा है, बाहर और भीतर की, जिसे सामान्य दृष्टि से नहीं देखा-जाना जा सकता। उसके लिए नया नजरिया, नई आँखें और नया वेग चाहिए। दृश्य को अदृश्य में और अदृश्य को दृश्य में तब्दील करने की दृष्टि चाहिए -

ऐसी गुपचुप है यह यात्रा / आना और जाना निःशब्द,
एक वेगकारी अस्तित्व का /गुपचुप गमन अदृश्य गमन

वस्तुतः इस यात्रा में जो पाँच तत्वों से शुरू होती है और पाँच इंद्रियों से अभिव्यक्त होती है, वह नारों जुलूस और आंदोलन या बाहरी ज्ञान और किसी पुस्तकीय विवेक या साक्षरता अभियान से पूरी नहीं होती क्योंकि कभी भी उर्वर सर्जक और रचनात्मक पड़ाव के लिए मन को मथना होता है। मन और मस्तिष्क के बेसुधियों को खंगालना होता है। हर पड़ताल के लिए शोधधर्मी होकर नित नई यात्रा और सतत यात्रा पर निकलना होता है। खुद गंगा प्रसाद विमल कहते हैं–

मुक्ति के रास्ते नारों से नहीं /किताबों से भी नहीं मिलते / जीवन की किताब /
लाचारी में भटकाएगी / खुद खोजने पड़ेंगे /मस्तिष्क के भीतर /
अदृश्य के रास्ते /पहचानी दुनिया के फरेब से /बेहतर है लौटना बेहोशी में /
कभी-कभी बेहोशी से ही /खुलता द्वार बाहर के रस्तों का

विस्थापन से बड़ा कोई दुख नहीं होता कविता में अपनी रचनात्मकता से अलग स्थान बनाने वाले हमारे समय के बड़े कवि गंगाप्रसाद विमल के नए कविता संग्रह 'खबरें और अन्य कविताएँ' को पढ़ते हुए दुर्लभ अनुभवों से साक्षात्कार होता है। इस संग्रह में विस्थापन से जुड़ी हुई पाँच कविताएँ हैं। अनुभव का व्यापक संसार समेटे वरिष्ठ कवि विमलजी की ये पाँच कविताएँ विस्थापन पर लिखे गए तमाम साहित्य से सीधे टक्कर लेती है। दरअसल ये पाँच कविताएँ आपस में इतनी जुड़ी और कसी हैं कि इनकी खासियत एक दूसरे के साथ मिलकर बड़ा अर्थ देती है। ये कविताएँ एक कहानी की तरह हैं। जाहिर है विस्थापन का सबसे बड़ा सच देश ने 1947 में देखा है और उसका घाव आज भी उतना ही हरा है, जितना तब था। ऐसा नहीं है कि समय के साथ इसका दर्द कम हो गया। विस्थापन के उस इतिहास को आज के समय से जोड़ते हुए विमलजी की ये कविताएँ बहुत कुछ नया कहती हैं। इतिहास और परंपरा का निर्वाह करती विस्थान पर लिखी पहली कविता की ये पंक्तियाँ देखिए'।

उन्हें धुर बचपन में / जैसा देखा हो मैंने दुःस्वप्न /
उसी का विस्तार था वह एक पल /
शायद पल-भर की दहशत /पूरे जीवन पर तारी थी

..... यह सच है जिसने विस्थापन का दर्द सहा है, इसकी असलियत वही जानते हैं। विस्थापन सिर्फ स्थान परिवर्तन को नहीं कहा जाता। बल्कि विस्थापन तो उस पूरी संवेदना के साथ छेड़छाड़ है, उन तमाम सपनों के साथ खिलवाड़ है, जिसे हर कोई देखता है। कहते हैं जब कोई बच्चा पैदा होता है तो दरअसल वो होता तो अकेला है पर उसके साथ उसका घर परिवार, समाज, आस-पड़ोस भी होता है। इसलिए विस्थापन के बाद न सिर्फ स्थान बदलता है बल्कि वो सारे सूत्र एक झटके में टूट जाते हैं, जिसकी टीस लगातार बढ़ती जाती है। उनकी ज़िंदगी एक अभिशाप है, जो दिन ब दिन भारी होती जाती है।'..

वे लाए थे कथाएँ / ऑसुओं में डूबे वृत्तांत / वे हत्याओं से नहीं डरे /
बस उस खौफ से / जो बेवतन कर / एक शाख को काट /छोड़ देता है बंजर /
छोड़ देता है बंजर / बनने के लिए धरती /वे अब कथाओं में हैं / वृत्तांत में /
अब बस / कथाओं में रहने के लिए अभिशप्त

असल में यह एक ऐसा दुःख है देखने में कैद भले न लगे पर सच तो यह है कि विस्थापन अचानक से हँसते-खेलते पूरे परिवार को कैदी बना देता है। कैदी उस नई जगह का जहाँ वो साँस तो ले रहा है पर उसमें घुटन बहुत ज्यादा है। कैदी उस जगह का जहाँ न तो कोई अपना है और नहीं गलियाँ अपनी हैं। न आस-पड़ोस है और नहीं भविष्य। और इन सबका का कारण

एक ही है–

वह दुःख ही था जिससे बँधे थे चुपचाप / वे कैदी नहीं थे पर थे बंधन में

विस्थापन की दूसरी कविता उस वास्तविक कहानी की अगली कड़ी है। जो लोग विस्थापित होकर नए शहर में आ गए उन्हें स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं है। कैसी बिडंबना है कि जिसे वो अपनी जमीन और अपना घर कहते थे वो तो छूट गया हमेशा के लिए। लेकिन उससे भी बड़ी बात यह है कि वो जहाँ आए हैं वहाँ उन्हें अपनाने के लिए कोई तैयार नहीं–

कहाँ से आ गए / ये इतने लोग / कहाँ से /*x x x*/

बाढ़ के बढ़े पानी की तरह/ अब इन्हें समाना है यहीं / जहाँ से भी आए हों'..

विमल जी इससे आगे बहुत बड़ी बात से सामना कराते हैं। विस्थापितों के सामने भयावह और साँय-साँय करता भविष्य, जिसमें न तो कोई सपना है, न ही जीवन को लेकर कोई उत्साह। कहा जाता है कि भविष्य के बारे में बुरा सोच सकने की कोई रोक टोक अपना विवेक नहीं करता पर अच्छा सोचने की स्वतंत्रता में बहुत रुकावट होती है–

गौर से देखा तो / सूनीं थीं उनकी आँखें/विचार सुन्न /

न वहाँ सपने थे, न अतीत के दृश्य /अपने निपट सूनेपन को भरने /

कहाँ से आ गए ये लोग / कहाँ से.....

विस्थापन चाहे रोजगार की तलाश में हो या गाँवों के उजड़ने की वजह से या फिर शहरों के विस्तार की वजह से, वह हमेशा तकलीफदेह ही होता है। भले ही इसे विकास की अनिवार्य परिणति ही क्यों न माना जाता हो। अगली कविता में गंगाप्रसाद विमलजी ने विस्थापन की सत्यता और सार्वभौमिकता को बड़ी बारीकी से उकेरा है। दरअसल एक नए राष्ट्र के निर्माण के लिए जिस तरह का विस्थापन किया गया और किया जाता है, उसका तलीय स्वर करुणा है। कहने को तो विस्थापित हो रहे लोग को शांति और सुकून का सब्ज बाग दिखाया जाता है। पर सच यह नहीं है क्योंकि नए ढंग से बसने के जुनून में वो अंधेरे में फँसते चले जाते हैं और समय के साथ महसूस होता है कि वो ज़िंदा लाश हैं। लगातार चलना नियति है परम काम नहीं है–

मैंने उन्हें चलते ही देखा/सड़क किनारे रेवड़ों में/सरों पर लादे/

बेतरतीब सामान / वे शांति की तलाश में थे वहाँ / सुकून की /

कौन कहे/चलते हुए सपनों की स्मृति/ हर ठोकर की कल्पना पर ही/

विलो जाती है विस्मृति में/ *x x x*/

मैंने उन्हें चलते ही देखा / आज भी ढोते हुए अपने शरीर/

वे चलते ही रहते हैं कर्मवीर/पुरुषार्थी....

जो लोग एक बार अपनी जमीन से विस्थापित हो जाते हैं उनके लिए जीवन आग पर चलने जैसा है। असल में विस्थापितों के लिए आगे भी आग का दरिया है और पीछे जो कुछ बचा था वो भी रोज-रोज जलता है, राख में तब्दील होता जाता है। स्मृतियों में जो गाँव, खेत, खलिहान, पेड़, पौधे रहते हैं वो सूखने लगते हैं–

अग्नि के राही / दूसरों से माँगते रहे सच/ उनका अपना सच/

इतना झुलस गया था कि देख / नहीं पाए /राख में तब्दील होते/

कहाँ थे उनके गाँव/ उनके खेत/उनके पेड़/ वे सब उनकी इंतजार में/ सूख गए'

ऐसे लोगों के लिए ज़िंदगी का जीना मानो स्थगित मौत को जीना है। पर सच तो यह है कि बहुत दिनों तक स्थगित मौत को भी नहीं जिया जा सकता। ज़िंदगी आत्महत्या करते हुए मौत की प्रतीक्षा बनने लगती है। सच तो यही है कि ज्यादातर लोगों के जीने का तरीका आत्महत्या का तरीका होता है। यह कहना बेमानी है कि जिन्होंने अपना सारा कुछ छोड़ा उन्होंने कोई सपना नहीं देखा था। सपना देखा था हरियाली का। सपना देखा था अच्छी ज़िंदगी का। सपना देखा था खुशहाल परिवार और दुख के सागर से निकलने का। पर हुआ क्या–

फिर से/हरियाली उगाने के सपने/नहीं उगा पाए/

एक आग के रास्ते से/दूसरों की तरफ/धकेल दिए गए

विस्थापन की आखिरी कविता मानवीयता की तमाम असलियत को मानो खोलकर सामने रख देती है। बेवतन होने के बाद बदलते चेहरे और उसके साथ बदलती मानसिकता को साफ-साफ परिलक्षित कर देती है। अब से पहले तक सब एक थे पर अचानक वही एक दूसरे के खून के प्यासे हो गए। जिनके साथ बचपन का हर लम्हा जिया, उसकी हर धड़कन से परिचित थे, वही अचानक बेगाने हो गए। बदल गई उनके प्रति नीयत। बदल गई एक दूसरे के प्रति सोच, समझ और तौर तरीके -

जिस पल बेवतन हुआ/ चेहरा बदल गया/

जिस्म की चमड़ी से भी तत्काल/पर देसी हो गया

इस पूरी बिडंबना का गंगाप्रसाद विमलजी ने बड़े सधे शब्दों में चित्रांकन किया है। उन्होंने कहा है कि असल में सिर्फ नाम नहीं बेवतन होते हैं-बेवतन होता है पूरा का पूरा नजरिया। राजनीति का इससे घिनौना चेहरा और क्या हो सकता है कि जो हर पल के साथी थे, वो अब

एक दूसरे के लिए बेगाने हो गए। सिर्फ बेगाने ही नहीं बल्कि राजनीति ने एक दूसरे को मजहबी तौर पर कट्टर दुश्मन बना दिया। असल में मनुष्य मनुष्य का दुश्मन नहीं होता दुश्मन होती है राजनीति। जो दो लोगों के बीच विष का काम करती है और दोनों के सामने कई तरह की दीवार खड़ी कर देती है। जब विष है, दीवार है तो यकीन मानिए परिणति श्मशान और कब्र की तो होगी ही। गंगाप्रसाद जी ने कविता की आखिरी पंक्ति में वो सब कुछ कह दिया है जो उन्हें और बड़ा कवि बनाता है-

अब हम सबके नाम से मुहल्लों में/कब्रें हैं/

और श्मशान / अब हम यहीं रहते हैं बँटकर'.

देश का जो बँटवारा हुआ, घरों का जो बँटवारा हुआ, वो तो हुआ है। पर सच सिर्फ यही नहीं है। सच तो यह है कि उस बँटवारे के बाद भी कई बँटवारे हो चुके हैं। शहर में, मुहल्लों में, घरों में, रिश्तों में, अपनों से। हम लगातार बँटते जा रहे हैं और यही हमारी मानवीयता के लिए आज सबसे बड़ा खतरा है। कवि की जो अंतर्ध्वनि निहित है वो यही है कि अगर हो सके तो उसे बचा लो। मानवता को बचा लो। एक दूसरे को बँटने से बचा लो -

इतनी जल्दी घटा है सब कुछ /कि अब लगता है अभी / तक कुछ हुआ ही नहीं'.

इस नई सदी ने बहुत से नए खतरे, नई चुनौतियाँ, नए प्रश्न और नई जिज्ञासाएँ हमें देकर बेचैन किया है। बेचैनी का सबब ही कविता है। यह ठीक है कि आज कई नए विमर्श कविता से जवाबदेही माँग रहे हैं पर ये विमर्श अलगाव अधिक बढ़ाते हैं। कविता का सत्य और वास्तविकता का तथ्य दोनों अलग-अलग हो सकता है। सत्य और तथ्य के बीच हमेशा विरोध रहता है। कविता को किसी भी खेमे में बँधने से बचना चाहिए। खुले शब्दों में कहूँ तो कविता को विचारधारा से अधिक संवेदनात्मक होना चाहिए। कविता पोस्टर, पैंफलेट या होर्डिंग नहीं नारों का इश्तहार भी नहीं उसका अपना आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास है। दिक्कत यहीं से शुरू होती है। मध्यमवर्ग जो अपनी बोली और भाषा से पहचाना जाता था, जो विचार परिवर्तन की बुनियाद रखता था, खतम हो रहा है। लोग खत्म हो रहे हैं भाषाएं भी खत्म हो रही हैं। गंगा प्रसाद विमलजी के इस संकलन को पढ़कर कई बार ऐसा लगा। व्यक्ति आजीवन अतीत मोह से ग्रस्त रहता है बिना भवितव्य की चिंता किए। उसके आसपास खबरों का संसार है जहाँ बाखबर करने के लिए कुछ भी नहीं' -

उसे बाँचलो समूचा उसी में अंकित है रात, अंधेरा/

उसी में चीख की तस्वीर, उसी में उभर आई / आखिरी हँसी'.

यहाँ रचनाकार केवल यथार्थ की रट नहीं लगाए है बल्कि अपने सामने एक वैकल्पिक

संसार भी रच रहा है। जो मानवीय सम्बन्धों को तलाश करता हुआ ठीक-ठाक देख पाता है कि पुरानी मूल्य व्यवस्था और सम्बन्ध व्यवस्था टूट रही है। यही संक्रमण का दौर है। शून्य की सी स्थिति है। नया कुछ नहीं उगता न अंतः जगत में, न बाहर। विमलजी की ये कविताएँ जीवन के जटिल सवालों का जवाब न भी दें पर यह क्या कम है कि अपने सवाल बार-बार दोहराती हैं....

इतिहास का आखिरी गवाह/

उसके बाद न संकेत होगा न स्वर न चित्र / और न पहचान

प्रत्येक कविता में एक ही अंतर्ध्वनि मौजूद पाती हूँ। इन ध्वनियों की भी खुलकर चर्चा होनी चाहिए। ये ध्वनियां भाषा विज्ञान से इतर हैं। क्योंकि अन्य अभिव्यक्तियों से कविता की प्रकृति अलग होती है। अतः अपने अनेकार्थी ध्वनियों में कविता केवल एक शब्द चित्र, एक बयान या बिम्बों का संगुफन और अर्थमय रहस्य भर नहीं है। जैसे-जैसे कविता में प्रतिरोध बढ़ेगा बाहर का अंधेरा चीन्हा जा सकेगा। यहीं आकर कवि और कविता की भूमिका बढ़ जाती है। जीवन-जगत के मर्म को जानना-उघारना भर काफी नहीं। उस पर अमल करने की जवाबदेही किसकी है'.

यह अंधेरा ही है अंधेरा/ जिसे हम समझते हैं आलोक

यह सब कुछ दिखा सकता है पर / नहीं दिखा सकता हमें अंधेरे का सच'.

अनिश्यच, गुमराही और संशय की रात कब की बीत चुकी है। हम जिस उत्तर औपनिवेशिक युग में जी रहे हैं, वहाँ हमें अतीत के मायाजाल से निकलकर बाहर की तमाम चुनौतियों से टकराना ही होगा क्योंकि माना जा चुका है कि कविता केवल जीवन के प्रसंगों तक जाना ही नहीं उसके भीतर पैठकर उसके स्पंदन को पकड़ना, जीवन के भीतर भी एक जीवन होता है-दिखाना है। एक असहिष्णु युग में जीते हुए गंगा प्रसाद विमल लिखते हैं-

अभी है कुछ बाकी जैसे पाना / और पाने के बाद भी, कुछ नहीं जैसा पाया तो /

वह था कुछ-कुछ प्यार जैसा/ और भी / मुक्ति मुझ से बाहर ही रहती है उन्मुक्त और उदार/

तमाम खुशियों की तरह बहुत दूर/ कुछ ज्यादा ही दूर'

इस संकलन में एक और बड़ी चिंता जो बार-बार जाहिर होती है कि खबरों के समूचे संसार में खबरदार करने के लिए कुछ भी नहीं होता। सूचना क्रांति के इस चौथे चरण में लगातार खबरों में बढ़ता फैब्रिकेशन, बेखबरी, फिलर्स ही अगर खबरें हैं तो भूकंप, बाढ़ और सूखा किसी भी सदी केलिए त्रासदी नहीं हो सकती। कभी सुंदरी का चित्र, कभी लॉटरी का फैसला तो कभी, बार बालाएँ हमेशा आकर ढकलेती हैं। वास्तिवक खबर दुर्घटना की, मातमी दृश्य के, बाढ़ से मरे

लोगों पर हावी है ये रंगीन दुनिया'..

घर में मातम था खुशी का / किसी को मिलनी थी जायदाद/

किसी को उम्मीद थी करुणा के बहाने कुर्सी मिलने की'/और भी/

दंग थे दंगों के कारोबारी / फायदा ही फायदा था दोहरा तिहरा /

औने पौने मिलेगीं जगहें / सस्ते मिलेंगे विधर्मी मजदूर'

इन्हीं चुनौतियों से जूझ रहा है रचनाकार। एक तो ये कि अतीत कितना भी मोहक, सुंदर हो, वहाँ ताकत की पूजा, चापलूसी का रस और स्मृतियों का बखान ही बार-बार मिलता है। कविता का ध्येय इतना भर नहीं। कविता भविष्य के प्रति उत्तरदायी है क्योंकि वही साक्षी है उस यथार्थपरक जगत की, जहाँ भेड़-बकरियाँ और बुद्धिजीवी एक साथ बिकाऊ हैं....

लालाओं के गिरोहों ने काटी है फसलें/ वे तो जा पहुँचेंगे स्वनिर्मित चाँद पर कुछ दिन

ले जाएँगे चुराकर बौद्धिक संपदा / खरीद लेंगे भेड़-बकरियाँ बुद्धिजीवी'

रचनाकार के सामने दूसरी चुनौती है खबरों की दुनिया से निरंतर खबरों का गायब होते जाना। यही आज की सबसे बड़ी सच्चाई है कि सभी खबरिया चैनल्स सूचना संदेश और विचार के स्थान पर फूहड़ मनोरंजन परोस रहे हैं। कैसा घालमेल है जिनका दायित्व लोगों को जागरुक करना, सावधान करना और आंदोलनधर्मी बनाना था, वे बहला फुसलाकर सुला रहे हैं। यह सब होने पर भी गंगा प्रसाद विमल भविष्य के प्रति आशान्वित हैं और लिखते हैं–

यह मत सोचना घट गया / बीत गया एक-एक आत्महत्या से तैयार होंगे औजार /

और वे इतिहास में दफन हत्यारों को खोज लाएंगे'

कविता को मुहिम की तरह देखनेवाले प्रतिबद्ध कवि गंगा प्रसाद विमल अपने जैसे लोगों और उनके सरोकार के प्रति भी चिंतित हैं। कविता लिखने का आखिरी उद्देश्य क्या है, क्यों और किन के लिए लिखी जा रही है कविता – इसी संकलन में 'लोग' नाम की कविता का अंश देखिए–

कामनाओं ने उन्हें मारा / मारा जन्म ने / गरीबी ने मारा बाजार में/

मरने के लिए जन्मे वे / पलते हुए मरे / हर हाल में मरना ही था उन्हें /

इसलिए भी मरे....

कविता में जिस आग की जरूरत है, वह विमलजी के यहाँ है ...जो अपने आप को, पूरे परिवेश के संदर्भ में जानने-समझने खोजने और पाने की ईमानदार कोशिश करते हैं। इस मायने में उल्लेखनीय है....

वे मरते हैं अपने यहाँ दूसरों की जमीन पर/दरिद्रता की प्रयोगशालाओं के निर्माता/

बढ़ा रहे हैं जगह, वे भी बढ़ रहे हैं संस्था में/ बढ़ रही है घटनाक्रम.... मरने के...

हर किसी की निगाह दूसरे पर है, अपने भीतर झाँकना हमें कब आएगा? जगत बोध बहुत हुआ, आत्मबोध पर बहुत कम लिखा जा रहा है ऐसे में गंगा प्रसाद विमल उत्साह की आँधी में बहते नहीं बल्कि विवेक को ज़िंदा रखना चाहते हैं-

अग्नि पथ के राही दूसरे से माँगते रहे सच / उनका अपना सच, इतना झुलस गया था कि देख नहीं पाए / राख में तब्दील होते...

विमल जी की ये कविताएँ आनेवाली पीढ़ियों में लोकोन्मुखी आत्म संघर्ष के लिए एक डगर बनाकर जा रही हैं, जो गहरी भी हैं और व्यापक भी। ये कविताएँ किसी सुविधा को अपनाने से परहेज करती हैं.... इतिहास के साथ वफादारी वही कविताएँ करेंगी जो प्रश्नों से भागकर नए प्रश्न खड़ा करने पर आमादा न रहें। इन कविताओं में बदलते परिवेश से जन्मा टूटता-बिखरता व्यक्तित्वही नहीं है, विमलजी उन्हें जोड़ना और सहेजना भी जानते हैं-

लिखा जो होगा वही नहीं बाँचा जाएगा / बाँचा जाएगा अभिप्रेत /

शताब्दी के शुरू में ही सजग हो गए हैं कर्मठ लोग/

सजग हो गए हैं देख गठबंधन / संभव के रास्ते, गुजरेगा बेखौफ असंभव....

इस कविता संकलन में प्रत्येक कविता में आंतरिक धुन की तरह जो व्यापक जीवन दृष्टि विद्यमान है उसे भी नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। गंगा प्रसाद विमल जी कविता को केवल सब्जेक्ट या मनः स्थिति का वर्णन ही नहीं मानते बल्कि इन कविताओं में समीक्षक को जो आब्जेक्टिविटी देखने को मिली, वह अन्य समकालीनों में दुर्लभ है। अभिप्राय है कन्टेंट और फॉर्म दोनों ही क्षेत्रों में विमलजी सचेत दिखाई देते हैं। उनके पास समृद्ध भाषायी कोश और व्यापक बिम्ब कोश हैं जिनका सहारा लेकर वे जटिल, सघन और विविध जीवनानुभवों को जिस पैनी निगाह से तौलते हैं ठीक उसी सलीके से कविता की आंतरिकता (कथ्य) के साथ भी ईमानदार रहते हैं। इनका कवि मन एक आंदोलन-धर्मी विचारक भी है। जो केवल जोश से ही नहीं, पूरे होशोहवास में समय और समाज से संवाद करते हैं। संघर्ष के बड़े अंतराल को पाटकर भी वे आशान्वित हैं कविता के अभिप्रेत के लिए-

एक निरानंद सुख / उम्मीद के सहारे टँगा है अदृश्य में / इतना ही देना /

न जान सकूँ असलियत, न भेद, न रहस्य / टोहता रहूँ भाषाओं में /

ठहर-ठहर वे संकेत / इतना ही देना.....

जब सारा व्याकरण कमजोर पड़ जाए, जब सारी व क्रोक्तियाँ शिथिल पड़ने लगें और जब शब्दों का समूचा समाजशास्त्र अधूरा लगने लगे, तब ऐसे में कहना, लिखना और दिखना बेमानी होने लगता है क्योंकि हम अपने आसपास व परिवेश में थोड़े-थोड़े बिखरे, टूटे, छिटके पड़े रहते हैं और ऐसे में भाषा का मानचित्र हमें अंतहीन गंतव्य तक पहुँचाने में असमर्थ होता है। इस तरह पाँच इंद्रियों से निकली यह यात्रा पंच तत्वों के ब्रह्मांड में विलीन हो जाती है। गंगा प्रसाद विमल भी कहते हैं–

कहे लिखे और दिखे के ठीक सामने / ठिठका हुआ है कुछ /
उसकी भाषा बोली की तरह नहीं /वृक्ष की तरह चिपकी है धरती पर/
हम उसे बाँच नहीं पाते/ न वह क्षत न विक्षत नित्य नवीन/
छपती रहती है हर पल हर जगह / कभी मूर्ति तक भी अमूर्तित

- बी-3, टीचर्स फ्लैट,
जानकी देवी मेमोरियल कॉलेज
सरगंगाराम अस्पताल मार्ग
नईदिल्ली-110060

'सन्नाटे से मुठभेड़' में शब्द-चयन का भाषा वैज्ञानिक आधार

डॉ. ममता पंत

शब्द-चयन का सीधा संबंध शब्दों के सटीक चुनाव से है, जो एक श्रम साध्य कार्य है। काव्य सृजन की प्रक्रिया में शब्दों का विशिष्ट स्थान होता है। काव्य में शब्दों के व्यापक महत्व को प्रतिपादित करते हुए शब्दों को काव्य भाषा की लघुतम, स्वतंत्र एवं सार्थक इकाई माना गया है। अनेक कवियों तथा विचारकों के अनुसार कविता भावों से नहींअपितु शब्दों से रची जाती है। विद्या निवास मिश्र के अनुसारः 'काव्यार्थ का रहस्य शब्द से उन्मीलित होता है।'[1] भारतीय काव्य शास्त्र में शब्दों के व्यापक महत्व को प्रतिपादित किया गया है। पंडित राज जगन्नाथ के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य है। शब्द-चयन की सीमा में शब्दों के सटीक चयन के साथ-साथ शब्दों का निर्माण भी आता है। कवि अपने भावों की रमणीय अभिव्यक्ति हेतु शब्दों की खोज करता है और भाव के अनुरूप शब्द न मिलने पर वह नए शब्दों का निर्माण स्वयं कर लेता है। ऐसा करते हुए उसे सजग रहना पड़ता है क्योंकि यह कार्य अत्यंत सूझबूझ और कौशल से भरा हुआ है। यही कारण है कि कई विद्वानों द्वारा काव्य को शाब्दिक कला भी कहा गया है।

गंगाप्रसाद विमल के काव्य में शब्दों की मर्मज्ञता पूर्णतः परिलक्षित होती है। अकहानी आंदोलन के जनक डॉ. गंगाप्रसाद विमल कवि, कथाकार एवं अनुवादक के रूप में दुनियाभर में ख्याति प्राप्त हैं। इन्हें कई राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा गया है। उनका जन्म हिमालय क्षेत्र के उत्तरकाशी जिले में सन 1939 में हुआ था। हिमालय क्षेत्र की अनुपम सामाजिक-सांस्कृतिक परंपरा का संस्कार इनकी रचनाओं में प्रवाहमान है। इन्होंने हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है।

'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह सन् 1994 में किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। इस काव्य संग्रह के बारे में कवि के स्वयं के विचारानुसारः 'इतना ही मैं खुद से पूछता हूँ कि इस किस्म की कविताएँ क्यों लिखता हूँ? इसलिए यह सवाल थोड़ा हैरान भी करता है। जो दूसरों से पूछना चाहिए यदि वही खुद से पूछने लगें तो समस्या पैदा हो जाती है। ..... जब दूसरे लोग अपने जैसा लिखने की कोशिश में विफल हैं तो मैं अपने जैसा लिखने की जिद में जो लगातार लिखे जा रहा हूँ, इसका कोई कारण भी होगा? फिलहाल मैं 'सन्नाटे से

मुठभेड़ में हूँ-'और उससे जो कुछ पाता हूँ उसे चित्रित करने की विफलताओं से आतंकित हूँ।'[2]

उपरोक्त कथन कवि के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने हेतु पर्याप्त है। कवि की रुचि शुरू से ही रचनात्मकता में रही है। यही कारण है कि उन्होंने समय-समय पर दर्जनों पुस्तकें सृजन के क्षेत्र में योगदान स्वरूप दीं। डॉ. विमल ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा और संवेदना के आधार पर काव्य में वस्तु के अनुरूप शब्दों का चयन करके अद्भुत प्रभाव की सृष्टि की है। साथ ही शब्दों के अर्थ-विस्तार द्वारा उन्हें सशक्त और जीवंत भी बनाया है। कवि के रचना-कर्म के शब्द-भंडार में विविध प्रकार के शब्दों का होना अत्यधिक आवश्यक है। इस दृष्टि से देखा जाए तो डॉ. विमल का शब्द-भंडारअत्यंत समृद्ध है। उन्होंने 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य-संग्रह में कथ्य के अनुरूप विविध प्रकार के शब्दों का चयन किया है। इस काव्य संग्रह में पचपन कविताएँ संकलित हैं। जिनमें कवि की जीवन-जगत के प्रति व्यापक दृष्टि देखने को मिलती है। इनकी कविताएँ समय और समाज से संवाद करती हैं। उनके पास समृद्ध भाषायी कोश एवं व्यापक बिंब कोश है, जिनके बलबूते उन्होंने बेहद जटिल, सघन और विविध जीवनानुभवों को जिस पैनी निगाह से तोला है, वह अपने आप में अद्भुत है। उन्होंने वर्ण्य-विषयानुसार विविध प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया है। 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में डॉ. विमल के शब्दचयन का भाषा वैज्ञानिक आधार लिया गया है। जिसके दो स्तर विभक्त किए गए हैं:-

(क) रचना के आधार पर शब्द- (1) रूढ़ (2) यौगिक और (3) योगरूढ़

(ख) इतिहास के आधार पर शब्द- (1) तत्सम (2) तद्भव (3) विदेशी और (4) देशज

(क) रचना के आधारपर शब्द-रचना का अर्थ है 'निर्माण'। इस आधार पर हिंदी शब्द तीन प्रकार के हैं। डॉ. विमल कृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में रूढ़, यौगिक और योग रूढ़ शब्दों का प्रयोग कथ्य के अनुरूप किया गया है। जिसका पूर्ण विवेचन इस प्रकार है-

रूढ़ शब्द- ऐसे शब्द जो परंपरा से किसी एक निश्चित अर्थ के परिचायक होते हैं और जिनके खंड सार्थक नहीं होते, रूढ़ शब्द कहलाते हैं। डॉ. विमल कृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में पक्षी, पंख, पेड़, हिम, हाथ, पाँव, आँख, कान एवं सुनना आदि रूढ़ शब्दों का यथा स्थान प्रचुर प्रयोग हुआ है। इससे संबंधित उदाहरण द्रष्टव्य है:-

'तो तुम मुझे/बस इंगित कर देना/ मैं भी अपने एकांत में/स्वरहीन से किसी अहसास को/ सुनने के लिए कान/खड़े कर लूँगा अपने हाथ-पांव और /अस्तित्व के सभी सहारे।'[3]

कहीं-कहीं पर तो डॉ. विमल अपनी कविता में रूढ़ शब्दों की झड़ी लगाते दीखते हैं। 'सुनो' शीर्षक कविता में 'सुन' रूढ़ शब्द का प्रयोग अद्भुत व्यंजना की सृष्टि करता है:-

'सुनो/ अगर सुन सको/ उसे ही सुनो/ तुम्हारे सुनने के बाद ही/ सुन पायेगी दुनिया/अनसुना करने के लिए। / सुनो/ दूसरों के सहारे नहीं खुद अपने/ पराक्रम से सुनो।.....'[4]

यौगिक शब्द-यौगिक उन शब्दों को कहते हैं जो दो शब्दों या दो सार्थक लघुत्तम भाषिक इकाइयों के योग से बने हैं।'[5] दूसरे शब्दों में यौगिक शब्द वे हैं जो दो या दो से अधिक सार्थक शब्दों के योग से बनते हैं। इन शब्दों में एक मूल शब्द रहता है, जिसके आगे-पीछे सार्थक शब्दांश जुड़े रहते हैं। मूल शब्द के बाद जुड़नेवाला सार्थक शब्दांश प्रत्यय और पहले जुड़नेवाला शब्दांश उपसर्ग कहलाता है।'[6] डॉ. विमल के काव्य संग्रह 'सन्नाटे से मुठभेड़' में यौगिक शब्दों का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। पराजय, असहाय, आभास, विराटता, असीमित, दिव्यानुभव, अलौकिक, तिरोहित, झिलमिलाना, अपरिचित, दिपदिपायगी, आलोकलहरी, आलोकित एवं अपरिचित जैसे यौगिक शब्दों का विषयानुरूप सटीक प्रयोग किया गया है। एक कुशल शिल्पी की भांति डॉ. विमल ने यौगिक शब्दों को उनके उचित स्थान पर बड़े ही कलात्मक ढंग से रूपायित किया है। इससे संबंधित उद्धरण द्रष्टव्य है:-

'शब्द जब चित्रित नहीं कर पाते/कोई कल्पित भाव/तब शब्दातीत अनुभव बनकर/छटपटाहट में/या गुस्से की बेचैनी में/या असहाय पराजय के बोध में/चुपचाप विस्मृति में/खिसक जाता है।'[7]

यौगिक शब्दों के चयन का एक और रूप 'संवाद' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है, जिसमें कवि उजले दिनों की आस लगाए निराशा में डूबे हुए जनमानस को कर्म पथ पर अग्रसर होने हेतु प्रेरित करता है। यौगिक शब्दों का अद्भुत प्रयोग काव्य पंक्तियों को अत्यंत प्रभावी ढंग से व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ दिखाई देता हुआ चित्रण द्रष्टव्य है:-

'वह क्षण जब सब,/तिरोहित जो जाएगा/ तभी झिलमिलायेगी कोई/अपरिचित-सी रोशनी/उस आकस्मिक चमक में/ दिपदिपायेगी/अनुपम-सी आलोकलहरी/उसी के बीच एक/स्वातिकांति-सी/ प्रथम बार देखी गई/ आलोकित प्रभा/सब कुछ व्यक्त कर देगी/एक उदार खुलेपन में।'[8]

उपरोक्त पंक्तियों में प्रयुक्त-तिरोहित, झिलमिलायेगी, अपरिचित, आकस्मिक, दिपदिपायेगी, आलोकलहरी, स्वातिकांति, आलोकित एवं खुलेपन जैसे यौगिक शब्द कथ्य को स्पष्ट कर देते हैं। जो अत्यंत प्रभावशाली हैं। योगरूढ़ शब्द- योगरूढ़ शब्द वे हैं, जो रूढ़ शब्द पर कोई दूसरा शब्द या उपसर्ग प्रत्यय जोड़ने से बनते हैं। डॉ. राजमणि शर्मा के अनुसारः 'योग रूढ़ उन्हें कहते हैं जो दो शब्दों से बने हैं, किंतु जिनका अर्थ किसी विशेष संदर्भ में संकुचित हो गया हो।'[9] दूसरे शब्दों में ऐसे शब्द जो यौगिक तो होते ही हैं, परंतु अर्थ के विचार से अपने सामान्य अर्थ को

छोड़कर परंपरा से किसी विशेष अर्थ के परिचायक होते हैं; उन्हें योगरूढ़ शब्द कहा जाता है। 'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह में योग रूढ़ शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। मानसरोदक, सफेदपोश, मणिपद्म, राजकुमार, पंच भूतों इत्यादि शब्दों के द्वारा डॉ. विमल ने अपनी काव्य भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को नई अर्थवत्ता प्रदान की है। योगरूढ़ से संबंधित चित्रण दृष्टव्य है:-

'सिंधु धारामें बहता है/मानसरोदक नीर/उसे स्पर्श कर/ तुम्हें छूने की प्रतीति पालता हूँ/हाँ-पढ़ने पड़ेंगे उसके आलाप/उसी में कहते हो तुम/हेमणि पद्म/वाँ वाँ वाँ-साँय-साँय बहती हवा/यही कहती है।'[10]

'हत्याओं से लौटे हत्यारे' शीर्षक कविता में वर्तमान राजनीतिक एवं सामाजिक दंश की परतें उधेड़ने हेतु 'सफेदपोश' योगरूढ़ शब्द के प्रयोग की सार्थकता दर्शनीय है:-

'लौटते हैं किस्सों के चटखारे लेते हुए/ बलात्कार का स्वाद याद करते हुए/वे जब ताकते हैं/लौटते मार्ग की सुंदरियों को/वे ताकते ही रहते हैं/भविष्य के मौकों के लिए/वे तमाम सफेदपोशों की तरह/हत्याओं की सफाई देते हैं.....।'[11]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ. विमल कृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह में रचना के आधार पर बने शब्दों का प्रयोग कथ्य के अनुरूप हुआ है। डॉ. विमल ने अपनी प्रखर प्रतिभा तथा सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुए सटीक शब्दों का चयन किया है।

(ख) इतिहास के आधार पर शब्द-हिंदी शब्द भंडार संसार की अन्य भाषाओं के समान निरंतर नए शब्द ग्रहण करता रहता है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अंग्रेजी, अरबी-फारसी, फ्रेंच, पुर्तगाली भाषाओं के शब्द भी हिंदी समूह में इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उन्हें अलग कर पाना कठिन है क्योंकि हम दिनप्रतिदिन की अपनी बोल चाल की भाषा में उनका प्रयोग करते हैं। 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में इतिहास के आधार पर शब्द चयन का विवेचन तत्सम, तद्भव, विदेशी एवं देशज शब्दों पर आधारित है। जिसका पूर्ण विवेचन इस प्रकार है:-

तत्सम शब्दों का चयन-तत्सम वह शब्द हैं जो किसी भाषा द्वारा अपने मूलभाषा से उसी रूप में गृहीत हो। जैसे हिंदी में संस्कृत के शब्द।[12] दूसरे शब्दों में जो शब्द संस्कृत भाषा से हिंदी में बिना किसी परिवर्तन के अविकल रूप में आ गए हैं, उन्हें तत्सम शब्द कहते हैं। डॉ. विमल कृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह तत्सम बहुला है। तत्सम शब्दों के चयन में उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः प्रचलित, काव्यात्मक एवं संदर्भ सापेक्ष्य है। उनके काव्य संग्रह में कल्पित, विस्मृति, सत्य, पृष्ठ, दृश्य, अर्जित, तृप्ति, दृष्टि, स्वयं, भव्य, अर्थ, अतीत, मंत्र, मुक्त, जनक, जननी, सृष्टि, कर्ता, बोध, क्षण, स्तब्ध, पंक्ति, हिम, शिखर, सिंधु, स्पर्श, प्रतीति, ब्रह्म, कांति, प्रभा,

आलोक, यंत्र, अर्थ, कर्म, अहं, क्षय, काल, भविष्य, ज्वर, अंश, आलोक, स्तुति, स्वर्ण, मिथ्या, जल, दर्प इत्यादि तत्सम शब्दों का चयन प्रसंगानुकूल हुआ है। तत्सम शब्दों से प्रयुक्त उदाहरण द्दष्टव्य हैः-

'ब्रह्मांड की विस्मृति में/नहीं जान पाया हूँ अपनी सीमा/जानने के मंत्र ने/ दिया है अहंकार/ मैं जानने चला हूँ ब्रह्मांड/वह मैं ही हूँ। /इतने भर से नहीं हुआ हूँ मुक्त/इसलिए मैं अपने बंधन में/छोटा हूँ। मुझे जानना चाहिए/जनक या जननी/ तब तक बड़े हैं/जब तक/मैं स्वयं मैथुनी सृष्टि का/कर्त्ता नहीं बन जाता।'[13]

वस्तुतः उपरोक्त पंक्तियों में बदलते हुए विषय के साथ बदलते हुए शब्दों का चयन अत्यंत महत्वपूर्ण है। तत्सम शब्दों के चयन का एक और रूप प्रकृति-वर्णन में देखा जा सकता है। जिसमें प्रकृति के भव्य, विराट और रहस्यात्मक रूप का सजीव वर्णन किया गया हैः-

'पर्वत स्तब्ध/हिम पंक्तियां/ जैसे इबारत हों/सत्य की/उस शिखर पर/या इस शिखर पर/सिंधु धारा में बहता है/मानसरोदक नीर/उसे स्पर्श कर/तुम्हें छूने की प्रतीति पालता हूं।'[14]

डॉ. विमल को शब्दों के मर्म का गंभीर एवं पूर्णज्ञान था। एक कुशल शिल्पकार की भांति उन्होंने शब्दों को उनके उचित स्थान पर बड़ी ही कलात्मकता से रूपायित किया है।

तद्भव शब्दों का चयन- ऐसे शब्द जो संस्कृत शब्दों से उद्भूत या विकसित होते हैं और संस्कृत से चलकर प्राकृत और अपभ्रंश की यात्रा करते हुए हिंदी में पहुँचे हैं; उन्हें तद्भव शब्द कहा जाता है। हिंदी के क्रियापद और सर्वनाम तद्भव रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। हिंदी की मौलिक शब्दावली की दृष्टि से तद्भव शब्दों का अत्यधिक महत्व है। केशव दत्त रुवाली के अनुसारः 'वास्तव में तद्भव शब्द-राशि ही हिंदी की अपनी संपत्ति है।'[15]हिंदी की तद्भव शब्द-संपत्ति दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली बोल-चाल की शब्दावली है। अतः काव्य में इस शब्दावली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता है लेकिन डॉ. विमलकृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में इस शब्दावली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। कहीं-कहीं पर तो तत्सम, तद्भव युक्त शब्दावली का अद्भुत सामंजस्य देखने योग्य है। उदारहण द्दष्टव्य हैः-

'खुले रखना द्वार/जैसे कभी हवा ने कहा था/ मैं आऊँगी शीत लेकर/ग्रीष्म के पिछवाड़े/कहा था स्मृति ने/खुले रखना गवाक्ष/अतीत की विस्मृत/गाथाओं को लेकर/ मैं आऊँगी/धूप-छाँव की तरह/अस्थिर।'[16]

डॉ. विमल ने अपने इस काव्य संग्रह में आसमान, अनुभव, गुस्सा, आँख, सफल, पर्वत, बर्फ, निरंतर, पल, अंधकार, धूप, रचना, माँ, पौधा, हवा, छाया, आरंभ, गीत, काँपना, हाथ, धरती, हँसना, कान, सुनना इत्यादि तद्भव शब्दों का प्रयोग विषयानुकूल किया है। वस्तुतः डॉ.

विमल को शब्द चयन की विशेष पहचान थी, उनके द्वारा चुने गए शब्द अपने स्थान पर पूर्णकांति के साथ आभासित होते हैं। उनके इस काव्य संग्रह में यदि एक ओर तत्सम शब्दों की अभिजात्यता विद्यमान है तो दूसरी ओर तद्भव शब्दों की सहजता देखी जा सकती है:-

'आखिर अंतरिक्ष के/खुलेपन में ही/तैर सकती है कल्पान्त/कल्पना मयता/जो कभी-कभी पादार्थिक ठोस में/विचरती है मानवाहंकार में/जैसे ही और खोलोगे/ थोड़ा और खुद को/ प्रकाश की अनदेखी छवि/आलोक के अनुभव से परे छवियाँ/बस जाएंगी/ चंद्रकलाओं में।'[17]

'भविष्य' शीर्षक कविता का एक और उदाहरण दृष्टव्य है, जिसमें प्रसंगानुकूल तत्सम शब्दों के बीच में तद्भव शब्दों के व्यंजकों का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है:-

'वर्तमान/स्वयं में/ सबसे क्षणिक है/केवल भविष्य के/सूत्र बंध पकड़े/वह पल-पल/पलोपरांत क्षय होता चलता है/और अपनी मृत्यु के शोक/पराजय और ध्वंस के बोध से/परे/चीन्ह नहीं पाता कि कब/भविष्य उसकी पीठ पर/सवारी कर रहा है।'[18]

विदेशी शब्दों का चयन-विदेशी भाषाओं से हिंदी में आगत शब्दों को विदेशी शब्द कहा जाता है। हिंदी के विदेशी शब्द वे शब्द हैं जो अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी एवं पुर्तगाली इत्यादि भाषाओं से आए हैं। दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा में घुल मिलकर हिंदी की उच्चारण प्रवृत्ति के अनुरूप संशोधित होकर ये सभी आगत शब्द स्वाभाविक रूप से साहित्य में प्रयुक्त होते हैं। इसका मूल कारण यह है कि प्राचीन काल से ही भारतीयों का संपर्क विदेशियों से रहा है तथा भाषा-व्यवहार के कारण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में विदेशी आयातित होते चले गए हैं।

'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह में अरबी-फारसी के शब्दों का बहुतायत प्रयोग हुआ है। इस संग्रह में प्रयुक्त विदेशी शब्द-तंबू, मेहमान, शायद, हत्या, मौका, दर्ज, वारदात, चेहरा, नेस्तनाबूत, बेखौफ, हिस्कार, लगाम, कसाव, विवश, सवार, मालूम, विवशता एवं विसात इत्यादि अरबी-फारसी के शब्द डॉ. विमल की काव्य भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को नई अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। 'घोड़ों को मालूम नहीं था' शीर्षक कविता का एक उदाहरण दृष्टव्य है:-

'हिस्कार या छड़ी से/लगाम के कसाव से/बस बढ़ने के लिए/विवश थे/ सवार के लिए वह पिछली सदी थी/घोड़ों को मालूम न था काल/अपनी लगामों से जूझे होंगे/जीत किस ओर रही/उन्हें मालूम न था/विवशता का शून्य था/वही सच था/क्योंकि उससे परे/घोड़े की क्या विसात/कि वह समझ जाए।'[19]

उर्दू के शब्दों की अपनी एक अर्थ भंगिमा होती है जो वर्णन को नई चमक प्रदान करती है। तत्सम, तद्भव व विदेशी शब्दों के सामंजस्य से काव्य में अद्भुत एकरसता देखने को मिलती है।

'मानता हूँ' शीर्षक कविता में शब्द चयन की सार्थकता दर्शनीय हैः-

'सिंहासन खाली कब रहता/एक के मरने के बाद/दूसरे की ताजपोशी में ही/वक्त लगता है/तत्काल/ उनके मानस ने तर्क खोजे/और ताजपोशी के कसी दे पढ़ने लगे/वही जो शब्द मर्सिया में/ मर्म को छूता था/ठीक उसी के मुकाबले/स्तुति/ढोल नगाड़ो में गूँजकर/कँपाती है मर्म को।'[20]

इस प्रकार डॉ. विमल ने अपने इस काव्य संग्रह में यथा स्थान अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग कर कथ्य को नई दिशा प्रदान की है। देशज शब्दों का चयन-वे शब्द जो हिंदी भाषा के आरंभ होने के समय से लेकर आज तक जनसामान्य की बोल चाल में अनायास विकसित होते चले हैं, देशज शब्द कहलाते हैं। कतिपय विद्वान देशी और देशज वर्गों को बोली के शब्द मानते हुए इनका समावेश देशी या देशज वर्ग में ही मानते हैं। डॉ. विमल को देशज शब्दों की अर्थ संबंधी सूक्ष्मताओं का भली-भाँति ज्ञान था। यही कारण है कि 'सन्नाटे से मुठभेड़' नामक काव्य संग्रह में देशज शब्दों का युक्ति युक्त प्रयोग हुआ है। उनकी कविताओं में जहाँ तत्सम शब्दों की अभिजात्यता दृष्टव्य है, वहीं देशन शब्दों का माधुर्य भी छलकता है। उनकी कविताओं में तत्सम शब्दों के बीच देशज शब्दों का सौंदर्य देखते ही बनता है। एक उदहारण दृष्टव्य हैः-

'वे दुख जो तुमने झेले थे/साझी करतूतों के/तुमने कहा भाग्य और कर्म/ यह सुनते-सुनते बुढ़ा गए लोग/इतनी जल्दी वक्त ने छलाँग ली/जहाँ कुछ बरस पहले/खड़े थे तुम्हारे जीवित पुरखे/वहीं हो तुम/फिर से वापिसी के लिए।'[21]

डॉ. विमलकृत 'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह में छटपटाहट, चुपचाप, खिसक, सरसराहट, लिखावट, घूसखोर, अचीन्हे, दुबक, पुरखे, ठिठकन, ताजेपन, झरता, चुटपे, चिड़चिड़े, टकटकी, चीन्हा, घिनौनी, जड़ना, गुस्सैल, चुपचाप, दुलराती, झबरीले, टोहता, साँझी, बुढ़ा, बरस, पुरखे, जनमने, ठिठकी, सरसराती, गुस्सैल इत्यादि देशज शब्दों का प्रयोग परिवेशानुकूल हुआ है। 'खिड़की से हरियाली' शीर्षक कविता में प्रकृति वर्णन दर्शनीय है, जिसमें देशज शब्दों का प्रयोग ऐसा लगता है मानो सोने के आभूषणों में नग जड़ित किए गए होंः-

'कभी-कभी चुप होते हैं पेड़/जैसे ध्यान मग्न हों/कभी हिलते हों गुस्सैल से/कभी चुपचाप उनके बीच/गुजरती है हवा/कभी सन्नाटा/सीटी मारकर दहलाता है/जब वे खल्वाट होते हैं/टहनियों को दुलराती/वैसे ही ऊबकर/खिसक जाती है।'[22]

डॉ. विमल की कविताओं में बदलते विषय के साथ बदलते शब्दों का चयन विशेष महत्व रखता है। उन्होंने अपनी कविताओं में विदेशी शब्दों के साथ देशज शब्दों का अभूतपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत किया है और अपनी बहुमुखी प्रतिभा के आधार पर नई कांति व व्यंजना भी प्रदान की है। 'सुनो' शीर्षक कविता में तत्सम, देशज और विदेशी शब्दों का सामंजस्य देखने

योग्य है। एक उदाहरण द्दष्टव्य है:-

'ऐसी ध्वनि आती ही थी/बच्चे कौतुक में खड़े न हों/न ऊबे हुए लोग/ किसी वारदात की अगवानी में/चुप्पे, चिड़चिड़े/सहसा बोलने न लगें/और मंदगति प्रतीक्षा न करें/कहीं से भी आ रहे किसी शोर के बारे में/अमूमन जैसा लोग करते हैं।'[23]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि डॉ. गंगा प्रसाद 'विमल' शब्दों के मर्मज्ञ कवि थे। अपनी विलक्षण प्रतिभा और संवेदना के बल पर उन्होंने विषयानुरूप शब्द चयनकर अप्रतिम प्रभाव की सृष्टि की है। शब्दों की अर्थवत्ता को संपूर्णता के साथ संप्रेषित करने का अद्भुत कौशल देखने योग्य है। उनके काव्य में जहाँ एक ओर तत्सम, तद्भव एवं विदेशी शब्दों की अभिजात्यता विद्यमान है, वहीं दूसरी ओर देशज एवं बोल चाल के शब्दों की सहजता प्रवाहमान है। कथ्यानुरूप रूढ़, यौगिक और योग रूढ़ शब्दों का प्रयोग अतुलनीय है। कवि प्रतिभा की सच्ची परख जितनी शब्द चयन के स्तर पर होती है उतनी अन्यत्र नहीं होती। अतः 'सन्नाटे से मुठभेड़' काव्य संग्रह में डॉ. विमल द्वारा प्रयुक्त शब्द अपने-अपने स्थान के सर्वाधिक उपयोगी शब्द हैं, जो कथ्य को प्रभावी बनाते हैं। उन्होंने शब्दचयन में अपार क्षमता का परिचय दिया है। शब्द का सही स्थान और उससे निकला अर्थ बहुत महत्वपूर्ण होता है। जिसमें डॉ. विमल को गंभीर परिज्ञान था। उन्होंने कथ्यानुरूप और बहुमुखी प्रतिभा के बल पर शब्दों को नई कांति व व्यंजना प्रदान की है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द यथा स्थान पूर्णकांति के साथ चमकते हैं।

संदर्भ :-

1. विद्या निवास मिश्र; रीति विज्ञान, दिल्ली, 1973, पृ. 47, 2. गंगाप्रसाद 'विमल'; सन्नाटे से मुठभेड़, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1994, पृ. 7-8, 3. वही; पृ. 81, 4. वही; पृ. 81, 5. राजमणि शर्मा; आधुनिक भाषा विज्ञान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2000, पृ. 295, 6. केशवदत्त रुवाली; हिंदी भाषा-शिक्षण, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ, 1990, पृ. 30, 7. गंगाप्रसाद 'विमल' सन्नाटे से मुठभेड़, पृ. 11, 8. वही; पृ. 30-31, 9. राजमणि शर्मा; आधुनिक भाषा विज्ञान, पृ. 295, 10. गंगाप्रसाद 'विमल'; सन्नाटे से मुठभेड़, पृ. 24, 11. वही; पृ. 23, 12. राजमणि शर्मा; आधुनिक भाषा विज्ञान, पृ. 295, 13. गंगाप्रसाद 'विमल'; सन्नाटे से मुठभेड़, पृ. 21, 14. वही; पृ. 24, 15. केशवदत्त रुवाली; हिंदीभाषा-शिक्षण, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ, 1990, पृ. 31, 16. गंगाप्रसाद 'विमल'; सन्नाटे से मुठभेड़, पृ. 30, 17. वही; पृ. 31, 18. वही; पृ. 35, 19. वही; पृ. 47-48, 20. वही; पृ. 58, 21. वही; पृ. 93, 22. वही; पृ. 87-88, 23. वही; पृ. 79

सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, एस. एस. जे. परिसर, अल्मोड़ा

गंगाप्रसाद विमल : जड़ों से जुड़ाव का रेखांकन

प्रवीण चंद्र बिष्ट

मनुष्य का जीवन सामाजिक गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण हिस्सा होता है। बचपन में व्यतीत किए क्षणों का उसे जीवन पर्यंत एहसास होता रहता है। यह उसकी व्यक्तिगत सामाजिक व सांस्कृतिक विरासत होती है लेकिन इन्हें शब्दों में रचने के पश्चात वह एक बड़े समूह की विरासत बन जाती है। गंगाप्रसाद विमल जी की कविताओं को पढ़ने के पश्चात हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि उनकी कविताएँ अपने समकालीनों से भिन्न कलेवर लिए हुए हैं। एक तरफ उनकी कविताओं में एकांत को लेकर चिंता दिखाई देती है तो दूसरी तरफ सार्वजनिक सन्नाटे की अनुभूति को देखा जा सकता है। गंगाप्रसाद विमल की कविताएँ वर्तमान की भयावह स्थिति, भूत की घटनाओं और भविष्य की संभावनाओं को एक साथ ढोने में सक्षम हैं। दूसरे शब्दों में इनकी कविताएँ अपनी दुनिया के हाल चालों को उकेरने की जद्दोजहद की प्रक्रिया हैं। वे स्वयं कहते हैं - 'रसज्ञ पाठकों के संवाद के लिए शायद मैंने भूमिका शुरू की थी किंतु हर संवाद पहले एक आत्मालाप की तरह शुरू होता है। और कविताओं के बारे में भी मैं कहना चाहता हूँ कि कभी वह अपनी विचित्रताओं का अद्भुत आत्मालाप हो सकता है।' (गंगाप्रसाद विमल - सन्नाटे से मुठभेड़ - भूमिका) मैंने इस आलेख में मूलरूप से उनके द्वारा उत्तराखंड में बिताए समय की यादों को रेखांकित करने व वहाँ की तरह-तरह की समस्याओं को उकेरने वाली कविताओं को आधार बनाया है।

उत्तराखंड के पहाड़ी क्षेत्र में फैले ढलानदार खेतों से हम बहुत अधिक मात्र में अनाज पैदा करने की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं लेकिन कठोर श्रम के पश्चात वहाँ के लोग उन पहाड़ों से भी अपनी आवश्यकता के अनुकूल कम से कम इतना अनाज उत्पन्न कर ही लेते हैं जिससे उनका घर-परिवार चल सके, फिर चाहे उन्हें इस हेतु कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। कवि गंगा प्रसाद विमल ने वहाँ नदी के किनारे फैले थोड़ी-बहुत मात्रा में पायी जाने वाली खेती में काम करने वाली औरतों का उल्लेख 'धान रोपते हाथ' कविता के माध्यम से किया है। उन्होंने बर्फ से आच्छादित पर्वतीय क्षेत्रों में की जाने वाली धान की खेती को लेकर अपनी बात रखी है। वे कहते हैं ठंडे प्रदेशों में बारहों महीने बड़ी शांति छाई रहती है। और यहाँ धान की फसल को तैयार होने में पूरे 60 दिन लगते हैं। यहाँ के लोग बड़े ही उत्साह के साथ धान की फसल के तैयार होने का इंतजार करते हैं। इसीलिए वे कहते हैं -

श्वेताभ शांति / बर्फ लदे पहाड़ / जैसे हो जाते हैं कोलाहल से अलग /

दृष्यों में झलकेगी / सदियों की दहकन / आँखों में /

साठ दिनों की प्रतीक्षा / जब पकेंगे धान / भरेंगे खलिहान।[1]

अतः इन खेतों में काम करने वाली औरतों को बड़ी बेसब्री से फसल के पकने का इंतजार होता है। उनका इस मिट्टी के प्रति एक विशेष प्रकार का लगाव होता है क्योंकि इसके पीछे इनका कठोर परिश्रम और संपूर्ण परिवार का गुजारा चलता है और जीवन आनंदमय बनता है।

प्राकृतिक सौंदर्य को लेकर उत्तराखंड का अपना एक विशेष महत्त्व रहा है। और वहाँ के लोग भी इसकी सुरक्षा को लेकर पूरी तरह से तटस्थ हैं। गंगा प्रसाद विमल जी का भी वहाँ की प्रकृति के प्रति और उसमें भी जंगलों के प्रति, बड़ी ही संवेदनशीलता दिखाई पड़ती हैं। उन्होंने वहाँ के वनों में पाए जाने वाले चीड़ के पेड़ को लेकर चिंता जताई है। यह पेड़ उत्तराखंड के वनों में सर्वाधिक मात्रा में पाया जाने वाला पेड़ है। भले ही चीड़ का पेड़ भूमि की उर्वरा शक्ति को कम करता हो लेकिन अन्य मायने में यह बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसमें से लीसा नामक एक चिपचिपा तरल पदार्थ निकाला जाता है जो काँच के बर्तनों आदि को बनाने में प्रयुक्त होता है। इसके पिरुल (पत्तीनुमा) का उपयोग जानवरों के लिए बिछौने के रूप में किया जाता है, साथ ही वैज्ञानिकों द्वारा इसके पिरुल पर शोध चल रहा और इस बात की संभावना जताई जा रही है कि इससे निकलने वाले कार्बन से बैटरी में उपयोग होने वाला साधन तैयार किया जा सकता है। इससे निकलने वाला चिपचिपा पदार्थ काफी ज्वलनशील होने के कारण, जब भी जंगलों में आग लगती है तो सबसे ज्यादा नुकसान चीड़ के पेड़ों को ही होता है। लेकिन इस बार सूखा पड़ने पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। इसका उल्लेख कवि ने 'सूखा' नामक कविता में इस प्रकार किया है -

'न वन-घाटियों की आग / न चीड़ की लपट।

न कोई आकस्मिकता / खेत मैदान फटे / न कोई भूकंप

जैसे बंजर सूखा आसमान / धरती पर आया हो उतर।'[2]

इसी कविता में आगे कवि उत्तराखंड के विकास को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। उनका मानना है कि सरकारी खबरें और अखबारों की खबरें चाहे जितना भी विकास का ढिंढोरा पीट लें यथार्थ स्थिति कुछ और ही है। जिसे यथार्थ के धरातल पर उतरकर ही देखा जा सकता है। इसीलिए वे कहते हैं -

'किसानों की आँखें, घास लाती औरतों के पाँव / पानी उलीचते हाथ

मीलों-मील चलते कदम / कह देते हैं सब कुछ। हाँ सब कुछ।'[3]

इसी विकास के इंतजार में पहाड़ के लोग आजादी के 74 साल बाद भी आशावादी बने हुए हैं। उन्हें विश्वास है कि एक दिन उनके क्षेत्र में भी विकास की लहर फैलेगी। पता नहीं हमारी सरकारें इन पहाड़ों में रह रहे लोगों की समस्याओं को लेकर कब चिंतित दिखाई देंगी और कब पहाड़ के लोगों के लिए विकास का दरवाजा खोलेंगी। इस आशा को कवि ने 'खेतों में काम करते लोग' के माध्यम से व्यक्त किया है -

कब होगा सवेरा / कुहासे को चीर / आलोक झिल मिलायेगा /

खेतों में काम करते लोग / इसी की इंतजार में हैं /

इंतजार में सदियों से खड़े / पहाड़। [4]

उत्तराखंड की सामान्य पहाड़ियों से अधिक वहाँ के बर्फ से आच्छादित श्वेत पर्वत शिखर आकर्षक दिखाई देते हैं। ये प्रकृति के सभी प्राणियों के मन को हर लेने की क्षमता रखते हैं, जिन्हें देखते हुए मनुष्य का मन कभी भी नहीं अघाता। कवि उन्हीं बर्फ से आच्छादित पर्वत श्रेणियों को लेकर चिंतित है। एक तरफ पर्यावरण में बढ़ती गर्मी इन्हें पिघलाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है तो दूसरी ओर मनुष्य ने लगातार इनके दोहन में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। अतः कवि की चिंता जायज लगती है। वे जगह-जगह स्थापित देव मूर्तियों को संबोधित करते हुए कहते हैं -

शून्य के / अपने निजी वर्ण में / तुमने रँगा है हिमालय /

हर पल / वह एक वर्ण जो मेरी दृष्टि में / बसा है अब/

अगले पल इतना बदल जाएगा / कि आश्चर्य में ही होगा अंत।[5]

प्रकृति की गोद में जन्मे गंगा प्रसाद विमल का प्रकृति को लेकर एक प्रकार का विशेष लगाव रहा है। प्रकृति का दोहन होता देख वे तड़प उठते थे। वे लगातार जंगलों के कटान को देख काफी दुखी हो जाते थे। और उन्हें कोसते थे जो पेड़ों को काटकर न सिर्फ प्रकृति का संतुलन बिगाड़ने में लगे हैं बल्कि पक्षियों के घरोंदों को भी तहस-नहस कर देते हैं। जिसे उन्होंने 'काश पेड़ों के पाँव होते' कविता के माध्यम से व्यक्त किया है -

'उन्हें काटते हैं लोग / तो काट देते हैं / पक्षियों के आवास /

प्रकृति का सदाबहार / यौवन / काट देते हैं लोग /

स्मृति / और सरहद रेगिस्तान की।'[6]

यहाँ वे प्रकृति के सभी प्राणियों को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। वे चाहते हैं कि किसी भी

तरह से क्यों न हो, हमें जंगलों के कटान पर रोक लगानी ही होगी। अन्यथा समस्त प्राणियों का जीवन संकट में पड़ सकता है। प्रेम के संबंध में लगभग सभी कवियों ने अपने विचार समय और परिस्थिति के अनुकूल रखने का प्रयास किया है। प्रेमी और प्रेमिका के एक साथ होने पर प्रकृति के सौंदर्य का जो आनंद मिलता है वह अकेले संभव नहीं है। उस दौरान प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में नएपन की अनुभूति होती है। प्रकृति के प्रत्येक तत्त्व उन्हें आनंद प्रदान करते हैं। प्रेम की यह दशा संयोगावस्था कहलाती है। लेकिन कवि गंगाप्रासाद विमल जी का नायक विरह अवस्था में प्रकृति के सुरम्य प्रदेश में अपनी प्रेमिका से दूर है। अतः उसे प्रकृति द्वारा आनंद प्रदान किए जाने वाले तत्त्व भी आनंद रहित प्रतीत हो रहे हैं। अतः वे प्रेमी की स्थिति को रेखांकित करते हुए कहते हैं -

तस्वीरों में देखी बर्फ में / और पहाड़ों पर /
ताजा-ताजा गिरी बर्फ/ देखते हुए सब कुछ /
लगता है / कुछ भी नहीं देखा जा रहा है /
इसलिए कि तुम नहीं हो / यहाँ / मेरे पास। [7]

इस प्रकार प्रेमी को प्रेमिका के अभाव में सौंदर्य से परिपूर्ण प्रकृति भी सूनी-सूनी सी प्रतीत हो रही है। इस कविता को पढ़ते हुए अनायास ही घनानंद जी की याद आ जाती है। प्रेम की इस परंपरा को विमल जी ने बखूबी निभाया है।

आज पलायन को लेकर काफी चचाएँ हो रही हैं फिर चाहे वह देश से हो अथवा राज्यों से, यह चिंता का विषय है। हमें इस विषय पर आत्ममंथन और विचार-विमर्श की आवश्यकता है और उसे रोकने के लिए सतही स्तर पर कार्य करने की। यहाँ एक प्रश्न और खड़ा होता है कि क्या विचार-विमर्श मात्र से पलायन रुक पाएँगे अथवा उन विचारों को अमल में लाकर उन पर कार्य करने की आवश्यकता है। आज पलायन को रोकने के लिए अनेक सरकारी योजनाएँ बनती तो है लेकिन दुर्भाग्य यह है कि ये कागजों में सिमट कर रह जाती हैं। आज हमारे देश से नवयुवकों का बहुत बड़ी मात्रा में पलायन हो रहा है जबकि पलायन व्यक्ति के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसमें उसे अपने परिवार से दूर तो होना ही पड़ता है साथ ही उसकी दिनचर्या पूरी तरह से अस्त-व्यस्त हो जाती है और रहन-सहन का ढर्रा भी बदल जाता है। इसीलिए कोई भी व्यक्ति अपने जन्म स्थान को छोड़ना नहीं चाहता किंतु जब वहाँ उसके पेट की आग शांत करने के साधनों का अभाव हो तो उसकी पूर्ति के लिए उसे दर-दर भटकता है। इस दौरान उसका मानसिक स्वातंत्र्य तो अवरुद्ध होता ही है साथ ही नारकीय जीवन से उसका साबिका होता है तब उसे अपना घर व गाँव रह रहकर याद आता है। ठीक ऐसी ही स्थिति को गंगा प्रसाद

विमल जी ने भी महसूस किया है। उन्हें भी पेट की आग बुझाने के लिए स्वर्ग के समान प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त पहाड़ी परिवेश को छोड़कर आना पड़ा। इसीलिए वे कहते हैं -

सोता है गाँव मेरी विस्मृति में /जागता है स्मृति में /
रात-रात उसके साथ / एक होते हुए / मैंने देखा है /
उन्हें रोते हुए / वे गाँव से दूर होने की वजह /
नहीं रोते / रोते हैं स्वर्ग की तलाश में / पाकर नरक।[8]

करीब-करीब इसी स्थिति को गंगा प्रसाद विमल जी की दूसरी कविता 'मैं वहाँ हूँ' में देखा जा सकता है?। उनका अपने गाँव के प्रति गहरा लगाव होने के कारण वे उसे अपनी स्मृति से दूर नहीं कर पा रहे थे। इसीलिए उन्हें सपने में भी अपने गाँव की याद सताती रहती है -

न था कोई दीखता हुआ / सिवा सपने में भटकता मैं /
मेरे उस सपने में सोया गाँव सच था / सपने में /
जागने पर जितना मैं / इन दो सत्यों के बीच /
सपने की भटकन-सा / भटकता हूँ मैं /
मैं कहाँ सच हूँ / वहाँ / कि यहाँ।[9]

'ऋचाएँ' नामक कविता में भी कवि लगभग इसी पलायन की त्रासदी को महसूस कर रहा है। वे आज दूर देश में बैठे हैं। वहाँ भी ठंडी हवा के आने पर उन्हें महसूस होता है कि यह हवा उन पहाड़ों को स्पर्श कर उस तक पहुँची है। आकाश में उमड़ते मेघों को देखकर ऐसा महसूस होता है कि उन मेघों ने उसे और उसके पर्वतीय क्षेत्र को एक ही छत के नीचे ला दिया है। जैसे -

हवा / तुम छूकर आती हो पहाड़ / थोड़ा-सा मुझे भी छूँ लो /
कितना रोमांचक होगा / पावनता का वह हल्का स्पर्श ? /
बादल / तुम तानते हो मंडोपा / कभी-कभी घेर लेते हो मुझे /
हिमालय को भी / एक ही घर के नीचे बँध जाते हैं /
एक ही घेरे में / रिश्ते के अपनेपन।[10]

पहाड़ों का मौसम अपने आप में एक विशिष्ट महत्व रखता है। वहाँ ठंडी के दौरान गर्म कपड़ों को पहन कर ठंड का सामना किया जाता है तो गर्मी के मौसम में धूप की परवाह किए बगैर भरी दोपहर में भी लोग अपने नित्य के कार्यों में संलग्न रहते हैं। इस तरह वहाँ का व्यक्ति दोहरी मार को झेलता है। वह एक तरफ सरकारी योजनाओं से वंचित है तो दूसरी तरफ

प्राकृतिक आपदाओं से त्रस्त। इस स्थिति को कवि ने बड़े ही निकटता के साथ महसूस किया है। इसीलिए गंगा प्रसाद विमल जी गर्मी के मौसम में पहाड़ों की स्थिति को रेखांकित करते हैं। वे कहते हैं -

ग्रीष्म में / जब धूप तापती हैं पहाड़ियाँ / और मैदान प्रार्थना करते हैं मेघों की /
तब अपने सिरों पर / ओढ़ लेती हैं / पहाड़ियाँ / शांति के तोरण /
आकाश के विरुद्ध / मानो सीना तानकर /
सूर्य की आँखों से आँखें मिलाते हुए / धूप तापती हैं पहाड़ियाँ।[11]

मनुष्य आज इस दंभ में जी रहा है कि वह जो कुछ चाहता है उसे पा सकता है जिसके चलते उसमें तरह-तरह के बुरे विचार जन्म लेते हैं। और वह समाज को उसी दृष्टि से देखने लगता है। वह इस दरमियान इस बात को भूल जाता है कि वह सिर्फ और सिर्फ एक मनुष्य है। कवि गंगा प्रसाद विमल 'बहुत दिनों से' नामक कविता में इसी विचारधारा को रेखांकित करने का प्रयास कर रहे हैं कि मनुष्य को अपने भीतर के अहंकार को त्याग कर इंसानों की तरह अपने आस-पास के लोगों से बर्ताव करना चाहिए। इस हेतु व्यक्ति को आत्म परीक्षण करने की आवश्यकता है। यहाँ गंगा प्रसाद विमल जी की एक नई दृष्टि परिलक्षित होती है, जिसे उन्होंने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है -

बहुत दिनों से / मैं खुद से बात करना चाह रहा हूँ /
माँगना चाहता हूँ सब सवालों के जवाब / अपने छिपे लहूलुहान अतीत को /
दिखा कर / पूछना चाहता हूँ सबब / पर आप जो मेरी दुनिया के खलल हैं /
मस्लन मौसम, वर्षा, हथियार, आतंकवाद / थोड़ा हटें / तो मैं फुर्सत में /
खुद से बतियाऊँ / अपने विश्वास को लौटा लाऊँ / और अपनी दुनिया में /
ठीक वैसा ही विचार सकूँ / जैसा होना चाहिए / बहुत दिनों से।[12]

इस प्रकार कवि इंसान को इंसान बने रहने के लिए प्रेरित कर रहा है। उसे एहसास करा रहा है कि हम व्यर्थ के पचड़ों में पड़कर अपना और समाज का अहित करने पर तुले हुए हैं। अतः वे मनुष्य को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करते हैं। 21वीं सदी में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में मानव ने काफी प्रगति की है। इसके बावजूद मनुष्य अशांत होता जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह अपने ही बनाए जाल में फँस गया है। अब वह अपने आप को असुरक्षित महसूस कर रहा है। विमल जी मनुष्य की इस दशा को देखकर काफी चिंतित दिखाई देते हैं इसीलिए वे 'हेमिस की संध्या' में प्रकृति के माध्यम से मनुष्य को आगाह करना चाह रहे हैं कि हमें अपनी इच्छाओं को

सीमित करना होगा। तभी हम पर्वत, नदी आदि की तरह शांति से अपने जीवन का निर्वहन कर पाएंगे। एक उद्धरण द्वारा उनकी इस पीड़ा को इस प्रकार देखा जा सकता है -

'प्रश्नों से भरा है / अंतर / क्यों हो तुम शांत / जब कि दुनिया /
अपने घिनौनी / अशांति में / चल रही है चाहे / किसी दिशा में।'[13]

कवि गंगा प्रसाद विमल 'दिनचर्या' नामक कविता के माध्यम से पहाड़ी प्रदेश में वसंत के मौसम में होने वाले परिवर्तनों को रेखांकित करते हैं। इनकी इस कविता को पढ़ते ही सुमित्रानंदन पंत की प्रसिद्ध कविता 'पर्वत प्रदेश में पावस' की याद आ जाती है। जिसमें उन्होंने वसंत ऋतु में पर्वत प्रदेश में पल-पल होने वाले परिवर्तनों को बड़ी ही सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है। कमोवेश विमल जी की कविता में भी समय-समय पर प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों को देखा जा सकाता है -

दूर-दूर जहाँ बर्फ ने हरियाली ढँक ली
वहाँ एक हवा / शिशु किलकारियों में / घाटी को जगाती है /
दूर-दूर जहाँ नन्हीं अँगुलियाँ काँपती हैं /
वहाँ प्रतीक्षा की हँसी झालरें / तारीखें टाँकती हैं।[14]

इस प्रकार गंगा प्रसाद विमल जी ने अपनी जड़ों से दूर होने पर मनुष्य की स्थिति को बड़े ही मार्मिक ढ़ग से अभिव्यक्त किया है। वे प्रदूषण के बढ़ते प्रभाव से पर्यावरण के असंतुलन की गंभीरता को समझ रहे हैं। वे समाज और सरकारों को समय रहते हुए इन स्थितियों पर नियंत्रण रखने की ओर प्रेरित कर रहे हैं। उन्होंने कठिनाइयों से भरे पहाड़ी जीवन को बड़ी ही सटीकता से रेखांकित किया है तथा उसके विकास के लिए संबंधित अधिकारियों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित किया है। वे पहाड़ों से लगातार हो रहे पलायन को लेकर भी चिंतित दिखाई देते हैं। अतः गंगा प्रसाद विमल जी पहाड़ों का चहुमुखी विकास चाहते हैं। इसीलिए समय-समय पर उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से वहाँ के अभावों से भरे जीवन को समाज के समक्ष लाने का प्रयास किया है।

संदर्भ ग्रंथ :

1) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'धान रोपते हाथ', पृष्ठ -15.

2) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'सूखा', पृष्ठ -31.

3) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'सूखा', पृष्ठ -31.

4) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'खेतों में काम करते लोग', पृष्ठ -9.

5) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'ओ देव मूर्तियो', पृष्ठ -36.

6) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'काश पेड़ों के पांव होते', पृष्ठ -56.

7) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'तुम', पृष्ठ -२३-२४.

8) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, इतना कुछ - 'स्मृति की खोह', पृष्ठ -75.

9) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, मैं वहाँ हूँ - मैं वहाँ हूँ, पृष्ठ -25.

10) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, मैं वहाँ हूँ - 'ऋचाएँ', पृष्ठ -91.

11) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, मैं वहाँ हूँ - धूप तापती पहाड़ियाँ , पृष्ठ-24.

12) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, सन्नाटे से मुठभेड़ - बहुत दिनों से, पृष्ठ- 39.

13) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, सन्नाटे से मुठभेड़-'हेमिस की संध्या' , पृष्ठ -83.

14) डॉ. गंगाप्रसाद विमल, विजप - दिनचर्या, पृष्ठ-3.

रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय

माटुंगा, मुंबई -400019

गंगाप्रसाद विमल की कविताओं में नगरीय मोहभंग

शोभा जोशी

प्रसिद्ध साहित्यकार गंगाप्रसाद विमल जी का सफर बड़ा ही संघर्षमय रहा है। उन्होंने अपने जीवन की यात्रा का प्रारंभ उत्तरकाशी (उत्तराखंड) के एक छोटे से कस्बे से शुरू किया और संपूर्ण विश्व को अपनी बौद्धिक क्षमता का लोहा मनवाया। उनके इस जीवन यात्रा का अंत श्रीलंका में हुआ। उनके काव्य में कहीं न कहीं जन्मभूमि और उससे अलग होने की टीस लगातार दिखाई देती है। अकहानी के जनक गंगाप्रसाद विमल का जीवन प्रभावपूर्ण रहा है। उनके साहित्यि में लगभग साहित्य के सभी मानकों को देखा जा सकता है। उन्होंने जीवन के साधारण से साधारण विषयों से अपनी कल्पनाशीलता और जीवन स्पंदनों को जोड़कर साहित्य को समृद्ध किया है। उनकी कविताओं की संवेदनशीलता पाठकों को चकित कर देती हैं। इनकी कविताओं में एक तरफ पहाड़ों से दूर होने का गम है तो दूसरी तरफ नगरीय अनात्मीयता के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। उनकी कविताओं से ज्ञात होता है कि नगरीय जीवन की अव्यवस्थाएँ कहीं न कहीं उन्हें लगातार कचोटती रही हैं। राजनीति और राजनेताओं के प्रति उनका दृष्टिकोण एक तटस्थ कवि की तरह रहा है। पहाड़, पहाड़ की संस्कृति, हिमालय और पहाड़ी पर्यटन का उल्लेख उन्होंने अपनी कई रचनाओं में किया है। सच कहें तो विमल जी मृत्यु के बाद हिमालय और वहाँ की पहाड़ियों ने अपना एक सच्चा मित्र खो दिया है।

नगरों का चकाचौध भरा जीवन हमेशा से हर किसी को लुभाता रहा है। शिक्षा, आवास और सुविधाओं के लिए नगरीकरण एक मायने में उचित भी है। मजदूरी और शिक्षा के लिए गाँवों की पगडंडियों से हाइवे और राजमार्गों का सफर आज आए दिन होता ही रहता है। यह सफर केवल गाँव और शहर के बीच की दूरियों को ही नहीं बढ़ाता बल्कि मानव मन में कहीं न कहीं स्वयं को भुला देने की खिन्नत भी पैदा करता है। शहरी वातावरण के दैनिक जीवन की जद्दोजहद बहुत बड़ी सच्चाई है। आज इंसान अति महत्वाकांक्षी हो गया है। इसी के चलते वह दिन-प्रतिदिन स्वार्थी होता जा रहा है। इसी प्रवृत्ति के बढ़ते जाने के कारण आज व्यक्ति समाज से कटता जा रहा है। यही स्थितियाँ धीरे-धीरे मनुष्य में मोहभंग करती दिखाई देती है जिसे अनेक साहित्यकारों ने सहित्य की विविध विधाओं के माध्यम से समय-समय पर बेबाकी से प्रस्तुत किया है।

गंगाप्रसाद विमल जी को पहाड़ी अंचल से बड़ा ही प्रेम रहा है। इनके साहित्य में पहाड़ पूरी जीवंतता के साथ उभरकर आया है। एक लम्बे समय तक विदेशी माहौल से जुड़े रहने के बावजूद

विमल जी लगातार अपनी जड़ों के प्रति मोह को नहीं छोड़ पाए। इनकी अनेक कविताओं में नगरीय स्थितियों के प्रति असंतोष दिखाई देता है। वे पहाड़ और नगर के बीच इस प्रकार अंतर कर बैठते हैं कि स्वयं में ही दो इंसानों को अनुभव करने लगते थे जो एक तरफ अपनी जन्मभूमि का हरापन देखता है तो दूसरी तरफ नगरीय रेगिस्तान में प्यासे हिरन सा भटकता रहता है। आँचलिक चेतना को अपने में समेटे यह कवि की उस स्थिति को दर्शाता है जिसमें वे पहाड़ छोड़ने का गम अपने जेहन से नहीं निकाल पाते। वे लिखते हैं -

'विचित्र/ स्मृतियों का विराट कूड़ाघर/ अपनी पगडंडियों का
अहसास देता है जब तक/ राजमार्गों की दुर्घटनाएँ/
फिर से फिर-फिर से चलाने के लिए/ उकसाती हैं अनाम गंतव्यों की दिशा।'[1]

कविता का कवि के यथार्थ से गहरा संबंध होता है। इसमें किसी वस्तु स्थिति की उपादेयता का वर्णन बड़े ही लुभावनेदार तरीकों से किया जाता है। गंगाप्रसाद जी की कविताएँ पूर्ववर्ती साहित्य का सहारा लेकर बढ़ने वाली बेल नहीं है' जो अपने विकास के लिए आधार तलाशें। उनकी कविताओं में शहर और पहाड़ को समझा जा सकता है। आँचलिक हरीतिमा और प्रकृति के बदते मौसमों का अनुभव मानव जीवन में नई उम्मीद भर देते हैं। वहाँ का सादा जीवन, सीमित जरूरतें और छल-कपट से रहित लोगों का होना वहाँ की सुंदरता में चार चाँद लगा देता है। नगरीय विस्तार के कारण गाँवों में बिखरा सन्नाटा वीरान पड़े घरों को पुरानी स्मृतियों की ओर खींचता है। इस संदर्भ में वे कहते हैं-

'उस घर में / अब सिर्फ हवा रहती है/ बंद दरवाजों के भीतर
पुरानी स्मृति/ एक समृद्धि/ और कुछ कहकहे कैद हैं।'[2]

कवि लगातार पहाड़ों से होने वाले पलायन को लेकर चिंतित दिखाई देते हैं। आज पहाड़ के लोग रोजी-रोटी की तलाश में शहरों की ओर तो चल पड़ते हैं। लेकिन वहाँ पहुँचकर वे जिस गलाजतपूर्ण जिंदगी को जीने के लिए मजबूर होते हैं; वह अकल्पनीय है। आज यह स्थिति कमोबेश भरतवर्ष के सभी गाँवों के लोगों की है।

इस कविता संग्रह में कवि का नगरीय मोहभंग होता दिखाई देता है। इसमें कवि ने नगर के त्रासदीपूर्ण जीवन को झेलते नौकरी पेशा युवा और उसके परिवार को रेखंकित किया है। कवि ने इन कविताओं के माध्यम से अपनी मातृभूमि से अलग होने के दुःख को प्रदर्शित करने के साथ ही साथ नगरीय आकर्षण को भी व्यक्त किया है। इस संपूर्ण स्थिति की पोल खोलने के लिए कवि की 'निवास' नामक कविता की यह एक पंक्ति ही पर्याप्त है-

'मैं अवास्तविक घरों का निवासी हूँ'[3]

अपनी जन्मभूमि से भावनात्मक लगाव होना स्वाभाविक है और जो लोग अपनी जन्मभूमि से दूर रह रहे हों, वे इस मनोदशा को और भी सहजता से समझ सकते हैं। स्मरणशैली में अपनी जन्मभूमि की हरीतिमा, बर्फ, फूल और घाटियों का चित्रण कर कवि अपने मन को शांत करते नजर आते हैं। प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम उनके पर्वतीय अंचल की कवितओं में देखने को मिलता है। वे धूल भरे शहरी वतावरण में जीवन बिताने के पक्षधर कतई नहीं थे। यह असंतोष उनकी शहरी जीवन की कविताओं में देखा जा सकता है। वे लिखते हैं -

'इसलिए न पढ़ा जाने वाला स्मृति लेख
आराम फरमा रही आत्मा को / विदेशी करार दे रहा था।'[4]

निष्कर्ष रूप में देखें तो विमल जी को स्मृतियों से बड़ा लगाव था जो उन्हें उनके साहित्यिक सृजन में सहायक होता दिखाई देता है। उनकी कविताओं को पढ़कर महसूस किया जा सकता है कि जब कभी वे अपनी स्मृति में जाते थे,तो केवल पहाड़ व वहाँ के अंचलों में बिताए क्षणों में इस प्रकार डूब जाते थे कि उन्हें समय का भान ही नहीं रहता। उनके कविता संग्रह 'मैं वहाँ हूँ' की कविताएँ राजनीतिक अव्यवस्था के प्रति रोष को दर्शाती हैं। संघर्ष, चेतना, आशा, निराशा और आस्था से मिश्रित यह कविता संग्रह साहित्य प्रेमियों के लिए अनूठी उपलब्धि है। विमल जी की इन कविताओं में समग्र सामाजिक परिवेश को रेखांकित किया गया है। इनकी कविताएँ बहुआयामी और बहुफलकीय हैं, जिनका सरोकार भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों से है। सामाजिक जड़ता से मुक्ति की चाह रखने वाले कवि विमल जी गाँव, पहाड़, देहात, शहर आदि के तमाम अनुभवों को अपनी कविताओं में बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। साहित्य का एक और बेहतरीन सितारा श्रीलंका की एक सड़क दुर्घटना में हमेशा-हमेशा के लिए चिर निद्रा में लीन हो गया। दूसरे शब्दों में कहें तो साहित्य का एक बेहतरीन कवि, लेखक और आलोचक हिमालय की यादों को लिए कहीं गुम हो गया।

संदर्भ सूची :

1. मैं वहाँ हूँ 'गंगाप्रसाद विमल' पृष्ठ क्रमांक- 42-43, 2. वही- 11, 3. वही- 30, 4. वही- 32

शोध-छात्रा
रामनिरंजन झुनझुनवाला महाविद्यालय (स्वायत्त),
घाटकोपर (प.)

गंगाप्रसाद विमल : दुनियावी रहस्यों के दानिशमंद किस्सागो

डॉ. अनिल पुष्कर / डॉ. मुन्नी गुप्ता

'मैं भी जाऊँगा' संग्रह की कहानियाँ अपने समय से आगे निकलकर आने वाले समय की पड़ताल करती इतिहास, वर्तमान और भविष्य के दृष्टिबोध की अद्भुत मिसाल हैं। अब तक हम सभी ने, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, संरचनावाद, उत्तर संरचना या विखंडनवादी दृष्टि से 20वी सदी के अंत की कथाओं को देखा पढ़ा सुना। अकहानी आन्दोलन के जनक, कथाकार, गंगा प्रसाद विमल अपने इस कहानी संग्रह 'मैं भी जाऊँगा' में इन सभी दृष्टियों से परे ऐतिहासिक और मिथकीय परम्परा कायम करते हैं, जिसमें वह पीछे छूट गए समय, इंसान, कुदरत और कायनात का अतीत और वर्तमान के साथ चला समय तथा आगे आने वाले भविष्य-गाथा रचने वाला समय और उसकी उन शिराओं को छूते हैं। लम्बे समय से चली आ रही पारम्परिक, प्रचलित, पुरानी शैली के तहत इन कथाओं का मूल्यांकन संभव नहीं। किसी समीक्षा, आलोचना, मान्यता, विचारधारा का सीधे तौर पर कोई दखल नहीं। इन कथाओं को किसी एक दार्शनिक पक्ष से बाँधकर देखा जाना कतई उचित नहीं।

इन कहानियों से गुजरते हुए एक नई दिव्य-वैश्विक दृष्टि भीतर कहीं पैदा होती है जिसे हम 'उत्तर संरचनात्मक आधुनिकता' की कहानियाँ कह सकते हैं। इन कहानियों को किसी एक पैनल - विचार, शैली, शिल्प की तहजीब से डिकोड करना ठीक 'बौद्ध भिक्षुओं की हत्या' करने जैसा ही मसला है जबकि बौद्ध श्लोकों-सी रची गयी इन कहानियों को पूरी तरह जीने का सलीका हासिल करना रूमानियत, रोमांच, जुनून और तजुर्बे से भरा है और खासा दिलचस्प व चुनौतियों भरा है।

इक्कीसवीं सदी में किस्सागोई और नई सदी की उन्मुक्त कथाओं के जिस छोर पर हम आज खड़े हैं ये यात्राएँ करने में इंसान को सदियों लगे। इन तमाम ब्रह्म वर्षों के भीतर ही अनंत कथाएँ भरी हुई हैं -अनगिनत कथाएँ पंचतन्त्र, हितोपदेश, बेताल पच्चीसी, चन्द्रकान्ता और झेन-कथाएँ हमें सुनने, देखने, पढ़ने को मिलीं। इस कथा संसार में हर लम्हा जो जीवन गतियाँ बह रही हैं, उन्हें समेटने की चाह में सदी ने दुनिया के आधुनिक हिस्सों की असंख्य नई कहानियाँ गढ़ीं। मगर क्या ऐसा हो सकता है कभी कि कुछ कथाएँ ऐसी भी हों जो जीवन गति में इन तमाम कथाओं में बह रही हैं, उनकी बारीक शिराओं को अपने भीतर समेटे हुए समकालीन समय के

साथ चलें? ऐसे ही किस्सों को आदि, अद्वैत, आदिम और आधुनिकता का रहस्यनामा तथा जीवन के यथार्थ की अय्यार-जादुई कथाएँ कह सकते हैं।

गंगा प्रसाद विमल ऐसे ही दानिशमंद किस्सागो हैं। 'मैं भी जाऊँगा' शीर्षक से उनकी किस्सागोई की एक ऐसी ही परम्परा निकलकर आती है, जिसमें आदि, आदिम, अद्वैत से अनंत की सुदूर यात्रा करते हुए जिस दौर में हम आ खड़े हुए हैं, वहाँ आधुनिकता-समकाल के सफर में अनंत दृश्यों का अजायबखाना देखने को मिलता है।

ये कथाएँ एक तरफ तो मिथक कथाओं के रहस्यों से भरी हैं। दूसरी तरफ इंसानी नस्ल, इंसान और कुदरत व अन्य जीव-नस्लों की दुनिया, प्रकृति के संस्कार का रहस्यनामा-सी दिखाई पड़ती हैं। तीसरी तरफ इन कहानियों में ग्राम्य, नगरीय, स्थानिकता, प्रादेशिक भूमि है, साथ ही - सभ्यता, संस्कृति, जंगल, पहाड़, नदियों किनारे बसने वाली स्मृतियाँ और दास्तानें दुर्लभ खजाने सी छिपी हुई हैं। आपको जानने में दिलचस्पी होगी कि किस्सागोई में ये सब कुछ कैसे मुमकिन है? यहाँ न तो कुछ भी जादुई है, न फैन्ट्स, न रोमांटिक, न रियलिस्ट। बल्कि इन सबके मिले-जुले रंगों से जो प्रतिच्छवियाँ रिफ्लेक्ट हो रही हैं, उन प्रतिच्छवियों से उत्कीर्णित छायाओं के रंग, धुंध, खुश्बू, रंगीनियत शिद्दत से महसूस की जा सकती है।

गर सोचें इस बात पर कि क्या वाकई में खण्डहरों की खेती हो सकती है? तो जवाब होगा- हरगिज नहीं। फिर जेहन में कौंधेगा तो किसी कथा का ऐसा शीर्षक भला क्यूँ ? दरअसल, पहली नजर में यह शीर्षक ही अपने भीतरी सूक्ष्म, सघन संरचना में युगकाल के अंदरूनी हिस्सों में बस रहे जगत की अनबूझी अमानतों से भरा है। दूसरी नजर में जटिल, तकलीफदेह और रोमांचित कर देने वाले रहस्यनामा को परत-दर-परत खोलते हुए आँखों के सामने रहता है, जिसमें यथार्थ, कटु यथार्थ और 'दृश्यते इति दर्शनेन' की मौसिकी से हटकर समकाल की जो दर्दमंद और खुशगवार झलकियाँ इनमें थिरक रही हैं, वे आपस में कथात्मक-संरचनाओं के भीतर कहीं न कहीं हमसे आपसे और जीवन-जगत में चल रही यथार्थ की अय्यारी से भरी नजर आती हैं। इसीलिए इन कथाओं को 'समकाल का अय्यार यथार्थ' या 'यथार्थ का अय्यार समकाल' की कथाएँ कहना उचित होगा।

कथा के हिजाबी असरार यही हैं यथार्थ में छिपी हकीकत के तिलिस्म को कथा-सूत्र में पिरोने के मानी हैं कि साफ-सफ्फाक लगने वाली हमारी आँखों में एक ऐसा सम्मोहन, एक ऐसा हिप्नोटिज्म जो हर लम्हा पुतलियों के भीतर घूमता रहता है, जिससे किसी को यह अहसास ही नहीं होता कि ऐसा कब, कहाँ नहीं घटा? और कलमकार भी रजामंद है इस मसले पर कि जो कुछ भी इन कथाओं में मौजूद है जो इकतिजा है या जो इजाज और मिजाज दबा हुआ है - जहाँ, जैसा, जितना कहा जा रहा है, वह ठीक-ठीक वैसा ही दिखे- ज्यूँ हर पल चल रही सुईयों में

घट रहा है या ठीक वैसा ही जैसा यथार्थ की हर धमनी में बह रहा है।

कथाकार गंगाप्रसाद विमल इन कथाओं के बनिस्बत इतिहास-वर्तमान की जो स्मृतियाँ, एहसास लेकर आये हैं वह खुद भी इनमें रहकर हर उस लम्हे को पूरी तरह उस वक्त तक जज्ब किए जीते हैं जब तक कि किस्से को कोई किनारा नहीं मिलता, अफसाने किसी आखिरी मोड़ तक नहीं पहुँचते। वह उसमें खोये हुए पुरजोर तबीयत, हर अंजाम से मुखातिब हैं। जो भी दृश्य-बिम्ब हमारी आँखों से गुजरते हैं उन तमाम घटनाओं के जरिये केवल अंदाजा नहीं लगाते बल्कि हर कथा के सामने की दुनिया के संधि, संयोग, घटना, अवसर से होकर गुजरना एक नए व स्फूर्त अहसास से गुजरने जैसा मालूम होता है। यह बिलकुल वैसी ही अनुभूतियों का जखीरा है जैसे - आदि शंकर का अद्वैत दर्शन या बौद्ध श्लोकों की तिलिस्मी दुनिया या फिर झेन कथाएँ।

जिस तरह वैदिक काल के भीतर कैद सवालों को उत्तर वैदिक काल में हल करने के करार हुए, सूत्र ढूँढे गये और उत्तर वैदिक समय में पैदा हुई चिंताओं और प्रश्नों को आगे आने वाले ऐतिहासिक या प्राचीन काल में हल किया गया तथा उसके बाद मध्यकाल और आधुनिक सदी में इतिहास और अतीत के गर्भगृह से निकलकर तमाम सवालों के नतीजे ढूँढे गये। ठीक इसी तरह उत्तर आधुनिक समय में जहाँ हर संरचना के खजाने में जो सवाल वर्तमान के सामने खड़े हैं, उनके हल 'उत्तर संरचनात्मक आधुनिक काल' में खोजे जा रहे हैं।

साफ तौर पर कहें तो हर सदी जो अपने समय में अपनी पिछली सदी के सवालों से टकराती है, उनके हल ढूँढती है। उन सवालों के उत्तर खोज निकालने की मशक्कतें, जद्दोजहद मुस्तकिल कोशिशें करती है, हर कुसूर, हर खता की चुनौतियों से टकराती है। इन चुनौतियों से जो नये किस्म के संकट पैदा होते रहते हैं, उनसे नये-नये तमाम सवाल पैदा होते हैं, जिन्हें हर काल के भीतर रहते हुए और उस काल के उत्तरकाल में उनके हल खोजे जाते हैं। यही इन कथाओं के किरदारों की चिंता है, यही मनुष्य जीव का स्वभाव और प्रकृति की जिजीविषा है। यही वजह है हर सदी दूसरी सदी से बेहतर और विकसित होती गई। इन समस्त दीर्घाओं में इतिवृत्त संरचनाओं की अति-विरल व तरल सतहों में दाखिल होना और उनसे टकराते रहना तथा हर मुश्किल को जज्ब कर उनके सामने नई-नई चुनौतियों से जूझना उत्तर बनकर प्रश्नों की अबूझ दुनिया में शामिल होना इन कथाओं की खासियत है।

हालांकि उन खंडहरों की खेती तो नहीं की जा सकती। मगर ये खण्डहर ही हैं, जो इस बात की ताकीद करते हैं कि यही हैं जो आदमी को नई ताकत देने की कूबत रखते हैं। मन के भीतर जर्जर हो रहे खण्डहरों को गर हम महसूस कर सकें तो ये खण्डहर जितने पुराने, जितने खराब हालात में टूटते-गिरते, झड़ते रहते हैं, दुनिया के भीतरी-बाहरी इलाकों में हर लम्हा - उनके भीतर इस टूटन, दरकन में बहुत सी साँसें और यादें हैं, जिनकी खुरचन में चढ़ी हुई परतें धीरे-

धीरे उनके करीब जाते ही उतरने लगती हैं। उनके झरने या झर जाने की या पलस्तर के उखड़ते रहने की, संस्कृति मन के खण्डहर में जितनी भी दरारें या खुदी हुई लकीरें हैं, इन्हीं में बीते हुए कालखंडों की यादगार चित्रशैली या अबूझे समय की पीड़ा और जिन्दगी की शास्त्रशाला है, खण्डहर की वे लकीरें वो सब जैसे-जैसे सदियाँ बीत रही हैं, वैसे-वैसे झरती रहती हैं अनादि काल तक।

ऐसी किसी भी कथा स्मृति में जीने के मायने हैं कि इस ब्रह्मांड संरचना को समझने की खासियत महसूसते रहना और खूबी यह कि जिन्दगी से इश्क, इन्कलाब और इबादत में जीते हुए, जिन्दगी की तलाश में आगे बढ़ते हुए, दुनिया में इंसानी अदब को बनाये रहना, ताकि गुजरे हुए समय, कालखंड के खण्डहरों में टूटन, बिखराव, घुटन, झरती हुई परतों की खुरचन, गुगिर्द सी गर्द में भी यादों की रंगीनी और जिन्दगी की महक बनी रहे। इंसान जिसे चस्क और जज्बे से ढूँढ़ निकाले। ये वो महकती यादें हैं जिनके रंग भले ही दिखाई न दें, गंध भले न आई हो सामने, हमें ठीक वही सूरत और सीरत भले न दिखाई दे रही हो, मगर जो पुतलियों की लहरों में शोर की आवाजाही है, उसमें उत्ताप उफानें हैं, वहाँ कथाओं से गुजरते हुए यादों की जड़ों के बियावान वनों में लुभावने और डरावने सुन्दरवन उग आये हैं। प्रतिच्छायायें चाहे स्मृतियों में बसी राहतों की हों या किसी अज्ञात अंदेशे की या फिर ये जो स्मृतियों के खंडहर हैं, जिनकी दरो-दीवार के दर्रों में शंका, संदेह, भ्रम की जड़ें फूटी हैं, यकीनन भरोसे और सम्भावनाओं की नई साख, नई कोपल नई उमंग को जज्ब कर ही लेती हैं।

एक और बात उम्र के आखिरी पड़ाव पर आदमी की यादों में जो खण्डहर बस रहे हैं वो ठीक ऐसे ही हैं कि वहाँ भी जिंदगी की अ-कहानी के भीतर ये जो समकाल से क्रान्तिकाल की कथा का सलीका है, इसमें आधुनिक रहस्यनामा अपने पूरे वुजूद के साथ आदि, अद्वैत, आदिम और आधुनिकता को लिए हुए आता है। जहाँ से यथार्थ जो दिखाई देता है, वह अय्यार मालूम पड़ता है और जब यथार्थ ही अय्यार होने लगे तब कथाओं को देखने का जो नजरिया है, उसमें मायावी, जादुई, अपूर्व शक्ति बहुत हद तक रवाँ होती है।

'खंडहरों की खेती' से होकर 'नई महक' तक जाना, फिर 'थोड़ा रुककर' उसके भीतर चल रही 'दृश्य कथा' को महसूसना और यह देखने की कोशिश करना कि 'आसमान की तरफ उठे हाथ' की चाहत क्या है? यहीं से 'धरती का पेट' खुलता है और तब पैदा होता है एक 'डर'। यह डर अपनी अंतिम अवस्था तक आते-आते 'मैं भी जाऊँगा' के साथ आखिरी मुकाम तक पहुँचता है।

वहीं दूसरी तरफ कथाओं की दुनिया में गुमगश्ता कलमकार जब 'थोड़ा रुककर' एक जहान की रौशनाई और उजाड़ में गुम है - इसी दरमियाँ 'वृत्ति', 'निवृत्ति', 'मुरौव्वत', 'मुरम्मत'

ऐसे कितने ही अल्फाजों की कई दुनियाओं से साबका हुआ, जहाँ जुबानी तहजीब में जीते-जीते सब कुछ को केवल भाषा के मत्थे मढ़ना कतई ठीक मालूम नहीं पड़ता। वो जगहें जिनके नाम आज बदले जा रहे हैं, उनमें बसर करते मायनों को टटोलना तथा इस्तेमाल में लाये जाने वाले संसाधनों के बीच एक भरोसा कायम रखना और जफा का यह फंतासी तिलिस्मी खेल जारी रहता है - दंगे, खाप पंचायतें, मनुष्यता की देवी की आँखों में हमेशा दर्द का पानी बना रहता है, जिससे वहाँ बसनेवाले लोग एक बीमार संस्कृति को पैदा करते हैं, उसमें कलपते तड़पते हैं। इन सांस्कृतिक विकारों से परिष्कार की किन्हें जरूरत है? कलमकार को ठीक-ठीक मालूम है। यहाँ तक कि और भी परेशानियाँ, दिक्कतें हैं, वो भी दर्ज हैं, मसलन - आबादी की तादाद में इजाफ़ा और उस पर लगाम लगाने की जेरेबहस में एक अदद चिकित्सक की तलाश का बिम्ब लिए वहाँ तक पहुँचना जहाँ इंसानी संस्कृति के विकार दोष दूर हो सकें।

यहाँ से होकर 'दृश्य कथा' में चलते चले जाना - जहाँ खूबसूरत फिज़ाएँ हैं, सपने हैं, सैलानी हैं, अविस्मरणीय दुर्लभ पहाड़ियाँ, घाटियाँ, यादें हैं. कुदरत के अनूठे, बेजोड़ परिंदों के जोड़े की आवाजें हैं या किरदारों की गुजारिश पर गर्म अंदाज में शिरकत के बहाने दुनियावी मजमे को देखने, समझने, महसूसने के नये एहसास, नये जज्बात पैदा करना, फिर यहाँ से होते-होते कुदरत की मायावी छायाओं से लबरेज अजूबी दुनिया में रम जाना - यह कहना कि 'छायाओं की वह दुनिया विचित्र थी।' इक जरा नाजुक ख्याल ज्यूँ-ज्यूँ पैदा हुआ, एक नई गर्म बहस छिड़ गयी कि उजाले से अँधेरा पैदा हो रहा है। छाया का आंशिक अन्धकार कहते गोया अँधेरे का रोशनी पर एक लम्बी खींचतान में गिर्दाब होते जाना कि छायाएँ उनका जवाब होंगी या नहीं? ये ख्याल अर्थवान कितना है? पहाड़ों की भाषाहीन शैली में संवादों का कितना हिस्सा मौजूँ हैं?

एक अन्य अफसाने में तमिल जुबानी युगलों की प्रेमकथा के बहाने 'आसमान की तरफ उठे हाथ' की कशीदाकारी, रूप, सौन्दर्य, आकार, कथा-भाषा-संवेदना-इन्द्रिय बोध - 'विचार' और 'आत्म' के रासायनिक मिश्रण की शाश्वत संरचना में 'लेखन', 'धर्म', 'स्मृति' और 'प्रयोजन' की नई दुनिया से तारुफ़ होना फिर अविश्वसनीय, अज्ञात अनुभवों की विश्वसनीयता के कारनामों को जग जाहिर करने की जरदोजी में एक ऐसी जर कथा की ओर मुड़ जाना जो असल जमीन पर घटी-दो जुबानों के बीच मज़हब, मज़हबी धारणा, पाकीज़गी और पाप-पुण्य की तमाम चिंताओं को आखेटक की शैली में एक ताना बाना बुनते चले जाना - ये तराशकारी का बेशकीमती नमूना है। यहाँ से एक तिलिस्मी कथा जिसे जाने बिना उसके भीतर बसी रूह, रूमानियत, रोमांचकता और युवा स्त्री का कन्फेशन, गुप्त-वार्ता के खुलने के खतरे, गोपनीयता में चोरी छिपे दाखिल होने का जोखिम लेना किसी गम्भीर चुनौती से हरगिज कम

नहीं।

अगर इस बात का यकीन नहीं कि ऐसा क्या है यहाँ? तो इसके एवज में आपको इस अफसाने के भितरखाने छिपी हकीकत की तह तक जाने की जिम्मेदारी लेनी होगी और वहाँ बेखटके, बेधड़क, पूरे ईमान के साथ इस गहरी अँधेरी सुरंग में घुसना होगा, जो मजहबी इबारतों की है। फिर जादुई रोमांचक जज्बातों से मुतासिर होना - इश्क, इसरार और सरपोशीदा (कुवारी) के बीच इकरार (कन्फेशन) किसी इबादतगाह में कि सरबराही, मजहब क्यूँकर इनके बीच निबाह करे? और मजहबी इख्तियार में इश्क और इकरार (कन्फेशन) कैसे जिन्दा रहे? इन मसलों में ले जाते हुए सारी तकलीफों और रोमांच के सफर से गुजरकर हर इक मौका-ए-वारदात को तफसील में बयाँ करना, जहाँ पेंचोखम से टकराना तय है, उनमें बदस्तूर दाखिल होकर किस्सागो चतुर, सयानी, कारस्तानी से बढ़ते-बढ़ते 'धरती का पेट' तक हमें ले आता है जहाँ खामी, हड़बड़ी, अंदाजा, गड़बड़ झाला से नजरें दो-चार होना लाजिमी है। यह वक्त कलमकार की पिछली कथाओं में हुनरमंदी से शिल्पकारी करते, परेशानियों से जूझते रहने के ठीक बाद सुस्ताने के ऐन वक्त होता है शुरू -अजीबोगरीब ध्वनियों का सिलसिला, 'धरती के पेट की जो स्थिति है, उससे मैं धीरे-धीरे ही सही मुकम्मिल तौर पर परिचित हो रहा हूँ। मेरा दुर्भाग्य उसे मैं अपने अर्जित भाषा में, जिसमें मैं शेखी बघारता था कि मैं पूरी तरह विज्ञ हूँ, उसमें पूरी तरह बता नहीं सकता। एक ही वाक्य कह सकता हूँ कि भाषा सचमुच एक लचर चीज है।'

कथाकार अपनी अनुभूतियों और तजुर्बे की कीमती सलाइयों से खींच लाता है -हँसी, साथ ही उसमें छिपी वक्रता। फिर बड़े मजे से यह कहता है, 'मेरे पाँव धरती से टिक धरती की हलचल सुन रहे हैं।' फिर ऊँची चोटी, नीची खाइयों, गहरी घाटियों में उतरकर निःशब्द को चीरती हवा गिरते पत्थरों की गूँज को अलफाज देती है 'भीतर धरती के विशाल पेट में ऊपर से नीचे की ओर उड़-उड़कर बह रही है शायद यही कहना उचित होगा' ठीक यहीं से बेशुमार सल्लाख सवालों के जत्थे उसके पीछे चल देते हैं। यकीन के बीच इंसानी जिन्दगी की हकीकत के तिलिस्म और तजवीज दबे पाँव दाखिल होते हैं। शक्ल वही, दस्तूर वही और कथाकार बड़ी अक्लमंदी से दुनियाभर के मुल्कों की तेजी मापने निकल पड़ता है। वापस लौटते हुए परिंदों की आवाजों पर तल्ख नजर और धरती की बेनजीर खबर से वावस्ता होता है, संसार की केमिस्ट्री से कई दफे आमना सामना होता है और फिर शुरू होती है एक तकलीफ के दरिया की रवानगी, अविश्वास, कुदरती बहारों के बीच इंसानी हिंसा, प्रतिहिंसा, आक्रामकता और घने अँधेरे से जूझता हुआ वह मानो एक संगीन अपराधी जान पड़ता है।

और अंततः 'मैं भी जाऊँगा' के सफरनामे पर कलमकार की आधी-अधूरी स्मृतियाँ, अधूरी कथाएँ एक पूर्णता की ओर मानो कदम बढ़ाते पागिरिफ्ता हैं। स्मृतियाँ जो दिमाग के तहखाने में

जोर-दबाव बनाए हुए हैं, इतिहास के फासले मिटाने की चस्क से भरी हैं। आवाजों और अल्फाजों से बुनी शैली में किस्सा कहने का अंदाज और ज्यादा तल्ख हुआ जाता है। 'कम्युनिस्ट' और 'कम्युनलिस्ट' के मानिंद हर्फ-हर्फ दुनिया में एक ही शक्ल में दिखे, सो धोखेबाजी सनक और सियासत पैदा हुई है। नाम रूपों के लोभ का अभिज्ञान बिलकुल इसी ठिकाने हुआ है।

जो सबसे मानीखेज है इस पूरी कथा में, इन चारो ध्रुवों पर वह नैतिक-अनैतिक की बहसें हैं। साथ ही ऐसा मालूम होता है कि ये बहसें 'अंतर्सृष्टि सिद्धांत' पर जाकर शायद खत्म हों। किन्तु फिर इसी जगह से 'प्रयोजन' और 'नियत' के आगे की यात्रा आरम्भ होती है। धर्म और औरतें अंतर्विरोधी मसलों में शामिल होती हैं, शंका और संदेह पैदा होते हैं। अनपढ़ता और इलेक्ट्रिक सर्किट की खूबी के बीच दुनिया की सबसे गतिमान जुबान से महरूम रहते हुए भी हुनर और दिमागी कुंजियों से अपने मुल्क की पैमाइश में हाजिर - अशिक्षित युवकों की कतारें भी दिग्गजों की कारस्तानियों और गोपनीयता को फारिग करती हैं पल में। यहीं से ओरिजिनल बनाम डुप्लीकेट, अमरीकी बनाम हिन्दुस्तानी, निजता के कॉन्ट्रैक्ट और कोंफिडेशियल के बीच हिन्दुस्तानी ज्ञान-विज्ञान, तकनीक से लैस दिमाग और अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर बनी तन्त्र गोपनीयता को भंग करने का इल्म व कलाबाजी, हिन्दुस्तानी कारीगरी अभ्यास में होना - साथ ही इतिहास और टेक्नोलॉजी के संवृत्त की इतिवृत्ति, असल की नकल और नकल की पाबंदी का संवाद और अंत में जिस छोर पर कथा आखिरी पायदान पर पहुँचती है, वह चारा वाकई में बेहद रोचक है।

कथाकार के कथा चश्म में किस्सागोई की जान बनी कुदरती-इंसानी संस्कृति ही हसरतें बसर करती हैं। मसलन खण्डहर की खेती से शरू हुई दास्ताँ आखिरी कथा में बौद्धमन्त्रों की जानी खासियत और टेक्नो पासवर्ड के बीच अद्भुत बहस है और अंततः जहाँ पूर्ण विराम हुआ है, वहाँ अमेरिकी स्टेयरिंग, रब की मेहरबानी और डॉलर की तरफ झुकते हुए टैक्सी ड्राइवर का यह कहना कि 'मैं भी जाऊँगा' ..जफा की नई-नई अनेकों सिल्लियों में बंद बफीलीं और सख्त कथाओं को पिघलने के लिए जोर देती हैं। सम्पूर्णता में संग्रह के दास्तानगो की स्मृतियों की बानगी के बहाने इतिहास और समकाल की इतिवृत्ति किस्सागोई इस तरह समाप्त होती है।

गंगा प्रसाद विमल की ये कथायें एक ऐसी धरती की उपज हैं, जिसमें सृजन-संक्रान्ति से नवोन्मेषी संरचनाकाल के सवाल गहराए हैं, जिन्हें उत्तर संरचनाकाल में हल नहीं किया जा सका और उत्तर संरचनाकाल के साथ जो नए सवाल पैदा हुए जिसे डीकंस्ट्रक्शन्स के बीच हल नहीं किया जा सका। विखंडनवाद के साथ यहाँ तिहरे स्तर पर पैदा हुए नए मुश्किलों भरे सवाल जिन्हें उत्तर आधुनिकता के तमाम विमर्शों में हल नहीं किया जा सका और उत्तर आधुनिकता से

उपजे सवाल जिनके हल अभी खोजने बाकी बचे हैं, ऐसी संरचनाएँ जो अपने मिथक, यथार्थ, ऐतिहासिक, आधुनिक दायरे में पैदा हुई और उन संरचनाओं का आपस में मिलते रहना, टकराते रहना और इस प्रक्रिया से पैदा हुई नित नूतन संरचनाओं का कुदरत और कायनात में आते रहना, इन सभी संरचनाओं का मिलना, संरचनाओं के अलग-अलग अस्तित्व से पैदा हो रहे संशय, संकेत, सूचनाएँ, संदेह, संभावनाएँ और सवाल जो कुछ भी हैं। कथाओं में यह सब कुछ भरपूर तरीके से तरतीबवार देखे जा सकते हैं।

इसलिए स्मृतियों की ये यात्राएँ अपने दौर की उन ऊँचाइयों को छूने वाली कथा-संस्कृति के बतौर हाजिर हैं जो कालजयी हैं। ये कथाएँ अपने भीतर इतिहास, परम्परा, और आधुनिकता से होते हुए वैश्विकता के अनन्तर उत्तर ध्रुवों तक फैले अनेक धरातलों पर - फैली, पसरी, गूढ़ संरचनाओं को अपने भीतर समेटे हुए जायजा लेती हैं और जुनून पैदा कर रही हैं कि कुदरत कायनात और इंसान व ब्रह्मांड की माया और अन्तर्सम्बन्धों को कैसे महसूस किया जा सकता है।

यानी एक पंक्ति में कहें तो घनघनाती, टकराती असंख्य ध्वनियों का संसार है यह कथालोक। जिसे हम उत्तर संरचनात्मक आधुनिकता के 'मल्टी डायमेंशनल विजनरी थॉट प्रोसेस' से ही देख सकते हैं। इसी में वह दृष्टिबोध है जो बीते कालखंड की अकूत गहराइयों से होकर समकाल की ध्वनियों के अबूझ संसार तक हमारी आँखों के सामने चमत्कारी ढंग से कुछ इस तरह गुजरती हैं जैसे - कथाओं में बसी आवाजें हर समय कानों में बज रही हों और उन लाखों करोड़ों ध्वनियों से जो चित्र पैदा हो रहे हैं, वे हमारी आँखों के सामने साक्षात चल रहे हैं, जो चित्र नूरे-चश्म में चल रहे हैं, उनकी गति और प्रकाश से होकर आपस में जो संरचनाएँ टकरा रही हैं, वो अद्भुत और विचित्र घटनाओं में बदल जाती हैं, जिन्हें हम इंसानी दुनिया के विस्मयकारी जगत की तरह समझ, बूझ, देख सकते हैं। जैसे हिंसा, हत्या, हक और हुकूमत के बीच कुदरत की असंख्य संरचनाएँ और उनसे जो शैली पैदा हो रही है, वह एक नये फितूर, नई घटना को जन्म देते हुए आगे बढ़ जाती है। यह बीतती जा रही चित्र दीर्घाओं में चलचित्रों की तस्वीरें जब तक कुछ संकेत दें। कहें कुछ - दूर निकष तक पहुँचते-पहुँचते एक दूसरी घटना घट जाती है। जब तक हम दूसरी घटना की असल गिरह सुलझा पायें, इक हासिल तक पहुँचें कि कैसे, क्यूँ, कब, कहाँ, किसलिए घटी? तब तक यह शैली अपने कहन के आवेग में एक तीसरी घटना बनकर तेजी से गुजर जाती है।

इस तरह एक घटना जो शुरू हुई तफसील से अपने विस्तार को पाने, उसी के भीतर कई-कई कहानियाँ घटते हुए देखी जा सकती हैं। गर यकीन न हो तो आप स्वयम इसका निरीक्षण-परीक्षण कर सकते हैं। एक ही घटना से कई-कई कथा-सूत्रों के सिरे खुलते जाते हैं। एक ही

कथा में नई कथा-संरचना के बीज-तत्त्व पैदा होने के सारे मंजर बने हुए हैं।

सभी कथाएँ संरचना-दर-संरचना और घटना-दर-घटना इस तरह एक-दूसरे के साथ गुँथी हुई चलती हैं कि हर घटना में एक आशंका, आश्चर्य, अनुमान, अनिवार्यता और असाधारणता व असाध्य जिज्ञासा यानी भरपूर कौतूहल, संकट, चिंताएँ और चुनौतियों को भली-भाँति देखा जा सकता है। समानांतर ही रोमांचक रहस्य का एक ताना-बाना भी बना रहता है। ये कथाएँ इस हद तक अजनबीयत से भरी हैं कि हम कथा की जिंदगियों से मिलकर, जिन्दगी के अजनबीपन में गुम, अजनबी हुए बिना नहीं रहते।

एक ही कहानी के भीतर कहीं अफसोस, कहीं उदासी, कहीं अरमानों का अर्श, कहीं बेवजह छटपटा-कसमसा कर हम रह जाते हैं कि इस महफूज रखने वाली आबे-तल्ख, जुबानी दास्ताँ उसके कारवाँ या सफरनामे की जिन्दगानी के दस्तूरखाने में आखिर कहीं कोई अमानतदारी तो होगी। कलमकार की हसरतों में हर लम्हा ठीक इसी तरह एक किस्से में कई-कई किस्सों की आस पैदा होती रहती है और उसके भीतर एक नई जुस्तजू व एक नया शिल्प फिर-फिर नई राहों की यात्रा पर निकल पड़ता है। जहाँ अमानत से खयानत के अनेकों तजुर्बों में रची इकतिजा पैदा हो रही है जोकि बड़ी कुशलता व रवानगी से अगली कहानी के रूप में ढलकर एक नई सूरत में असमंजस, आशंका, अवधारणा लेकर आती है।

दूसरा पहलू है गैरजरूरी मसलों पर कोई गुफ्तगू कहीं नहीं। हर किस्सा पर्दे में है और हर पर्दे के हिस्से में कई-कई किस्सों के ढेरों पर्दे हैं। ये पर्दा बिलकुल ठीक वैसा, ज्यूँ जमीन के ऊपर आसमानी पर्दा, हवाओं में सिम्त का पर्दा, साँसों में जिस्म का पर्दा, बीज पर धरती का पर्दा, इतिहास पर नजरिये का पर्दा, वर्तमान पर अतीत का पर्दा, भविष्य पर गुजरे वर्तमान का पर्दा और हर पर्दे के भीतर एक नये किस्से की सिलवटें, माया, तिलिस्म, सौगात, संकट, संभावना छिपी हुई है।

कथाकार गंगा प्रसाद विमल की ये कथा जाबिता एक सिरे से शुरू हुई तो वह सिलसिला किसी एक खास क्रम या पैटर्न में या प्रतिज्ञापत्र से बनी बनाई लीक, शैली में कतई आगे नहीं बढ़ता। बल्कि इन कहानियों के भीतर ही कथा प्रस्तुति शैली की जो जीनत उभरती है, उसकी जरिफ परम्पराएँ नए काईदे रचती हैं, जिससे कहन की प्रचलित प्रवृत्तियाँ, तरकीबें, सारे ढंग जीवन-कथाओं के भीतर ही टूटते नजर आते हैं और इस टूटने के क्रम में ही या यूँ कहें कि किस्सों की मिल्कियत का जो फल्सफेकार है, उसके भीतर इन ज्ञात शैलियों को तोड़ने की कोशिशों में ही नई शैली ईजाद हुई चलती है, जिसके भीतर मौजूद सृजन-विखंडन में ही जो नई-नई संस्कृतियाँ झिलमिल करती हैं। वह कथा के प्लॉट में रोजमर्रा की जिन्दगानी के किस्सों की लम्बी फेहरिस्त लिए रहता है। जिन्हें हम सहर की पहली किरण संग आँखें खोले तफसील

से जानने की ताब-ए-चस्क से भरे होते हैं कि किस्से में आगे क्या कजा, कफस, काबिलियत छिपी हुई है। जब हकीकत खुद ही गोपनीयता का लिबास ओढ़े आती है, तो तमाम वारदातें हो ही जाती हैं। रात बीते आँखें बंद होने तक दिन भर के समूचे दृश्य-दर-दृश्य, कही और सुनी गई तमाम घटनाएँ जो लाखों-करोड़ों बार जैसे पलकें झपकती-खुलती रहती हैं हमारे सामने, मानो-दृश्य-विधान पल-पल बदलते रहते हैं। इन कथाओं के दृश्य-विधान हर वक्त हमनवा जिन्दगी के फतवों और फितूरों में रहकर कयामत, कायदा, कायम जिन्दादिली से मुकाबिलेतन बोसा होते हैं।

एक बात जो बहुत तसल्ली से भरी है घटनाओं के पीछे छूट गई स्मृतियाँ -जैसे, दंत कथाओं, महाकाव्यों, मिथकों, महाग्रंथों में इंसान की असली ऐतिहासिक स्मृतियाँ अनगिनत किरदार बसर करती हैं। इंसानी जेहन और दिमागों में छिपकर बैठी रहती हैं, वैसे ही कथाकार की यह अमूल्य धरोहर यानी ये आठ कथाएँ और हर कथा के भीतरी इलाकों में एक-एक देशकाल की स्मृतियाँ ही केवल बसर नहीं हैं, बल्कि हर एक घटना के भीतर जो ध्वनियाँ, चित्रछायाओं की गूँज दिखाई देती है - वहाँ अनंत ऐतिहासिक किस्में, कुसूर, खिलाफत की गिरहें, कथा और स्मृतियाँ उमगने लगती हैं।

यही वजह है कि अब तक के सभी कथा-सिद्धांत, अवधारणायें, विचारधारा या दृष्टियाँ उनमें से किसी एक पर टिके रहकर इन कथाओं के लिए किसी एक कसौटी पर कसकर माकूल मालूमात नहीं हो सकती। कथा स्मृतियों की यह दृश्य छवियाँ अपने भीतर समय और यथार्थ की जमीन पर इतनी दूर तक फैली पड़ी हैं कि इनके एक सिरे को पकड़े रहना और अंतिम छोर को पाना दोनों ही दाग भरा हो सकता है। हर कहानी का पहला सिरा इतनी कहानियों और स्मृतियों से होकर गुजरता है कि कथा के आखिरी हिस्से तक और आखिरी कहानी की अस्ल सृष्टि तक पहुँचते-पहुँचते हमें यह अहसास ही नहीं होता कि सचमुच में हम किस सिरे पर हैं - आखिर में, मध्य या शुरूआत में - ज्यूँ समंदर के भीतरी इलाकों में अकूत गहरे उतरने पर एक भ्रम की स्थिति पैदा होती है कि अब नीचे उतरते-उतरते गोताखोर ऊपर की ओर आ रहा है या कहीं गहरे समाता जा रहा है।

यहीं पर ये सवाल पैदा होते हैं कि कथाएँ किसी एक मंजिल या लक्ष्य तक पहुँचने का कोई सिरा देती हैं या फिर ये कथाएँ किसी एक मंजिल से होकर कई-कई मंजिलों के ऊँचे आसमानों या गहरे तहखानों में धकेलती ले जा रही हैं। दूसरे स्तर पर ये किस्से ऐतिहासिकता की जमीन पर उपजी हुई वे स्मृतियाँ मालूम होते हैं जहाँ इंसानी वारदातें, प्राकृतिक आचरण और ब्रह्मांड की गतियाँ या भू-गर्भ की संरचनाएँ आपस में एक-दूसरे के साथ टकराती रहती हैं, घर्षण करती हैं, एक-दूसरे से संचालित हैं। एक-एक पर अर्थों और उसूलों का भार, बल व आकर्षण ऐसा है कि

इन तीन ध्रुवों पर एक-एक के चुम्बकत्व, गुरुत्व और गतिजता के साथ जो तनावपूर्ण खींचतान बनी हुई है, उससे सामंजस्य, समरसता और संतुलन का एक रिश्ता कायम हुआ है। कहानियों का क्षितिज इतना विशाल है कि जिसमें अमूमन तो यह मुमकिन ही नहीं कि कोई तस्वीर, वारदात या स्मृतियों का मायाजाल शेष रह जाय, चाहे वह घटना भाषा, शब्द, व्याकरण, दर्शन, विज्ञान, भू-गर्भ, इतिहास किसी भी चीज के रसायन से शुरू हो।

इन कथाओं की खूबसूरती और खुशूसियत ही यही है - इनके भीतर किसी एक अस्मिता या किसी एक संपदा के वर्चस्व की स्मृतियाँ तो हरगिज नहीं बसतीं। बाजाफ्ते जिस तरह प्रकृति में बाहरी और भीतरी दबाव, असंतुलन, अराजकता के कारण रासायनिक विचलन पैदा होता है, तमाम घटनाएँ कुदरती तौर पर घटती रहती हैं। तब कहीं जाकर प्रकृति अपना स्वरूप, संरचना, सौन्दर्य बदलती है। इसी तरह इंसानी नस्ल के भीतर जो घटनाएँ घटती हैं - समाज, संस्कृति, अर्थ की तथा तन्त्र के दबाव, असंतुलन की वजह से या फिर इन घटनाओं से जो असंतोष, असंतुलन अराजकता पैदा हुई है यानी प्रकृति के कुदरती गुण- अवगुण, इंसानी नस्ल के गुण अवगुण - खासियतों और दुर्भावनाओं दोनों को लेकर अपने व्यापक फलक पर ये कथाएँ इस सदी में एक नया दृष्टिबोध पैदा करती हैं। इसे किस सिद्धांत या आलोचनात्मक दृष्टि से देखा समझा जाय? यही कोशिश जारी है। यह दृष्टि या वीजन 'उत्तर संरचनात्मक आधुनिकता' का आईना है जिसमें साफ तौर पर इन कथाओं को गहराई से देखा जा सकता है।

जब कोई कथाकार इस ख्याल को लगातार हर कथा में कहे कि यह आधे-अधूरे किस्से हैं, जो स्मृतियों में दफन और जिंदगी में कहीं अब भी जिन्दा हैं। यह आधी-अधूरी कथाएँ जो अब कहीं जाकर जिन्दगी के अंतिम पड़ावों में अपनी सम्पूर्णता में कहे सुने जाने की बेचैनी से भरी हैं, तो याद हो आती है उन्हीं खंडहरों की जो अब भी कहीं इसी जमीन पर अपने शेष-अवशेषों के साथ बचे हुए हैं। उन्हें देखते ही उनके भीतर दबी कथाएँ उभर आती हैं अपने पूरे वजूद के साथ, अनगिनत तस्वीरें यादों में घूम जाती हैं। अगर आधे अधूरे खण्डहर न होते तो ये कथाएँ जीवित कैसे बची रहती।

दरअसल इस बहाने दानिशमंद कथाकार गंगा प्रसाद विमल कथाओं में यह संकेत दे देते हैं कि इंसानी सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ, सभी कुछ तो कुदरत और कायनात की नाआश्ना कथाएँ ही हैं, जिनके अवशेष हमेशा ही रहेंगे, जब तक इंसान धरती पर रहेगा - उसकी स्मृतियों में ये अनंत कथाएँ जीवित बची रहेंगी। 'मैं भी जाऊँगा' संग्रह की दास्तानें खण्डहर की जिस खेती से शुरू हुई, वह अंत में मैं भी जाऊँगा के साथ अपने आखिरी निकष पर आकर इस बात को समझाने में पूरी तरह सफल हैं कि ये अफसाने जो जीवन जगत और उसके भीतर की इच्छाएं हैं, नाइत्तेफाकी से भरे हैं। जो आगे आने वाले भविष्य की ओर गैरत से देख रहे हैं। एक खूबसूरत

भविष्य की जिजीविषा से भरी हुई बानगी हैं और ये कथाएँ इंसानी दुनिया के साथ-साथ हमेशा जीवित बची रहेंगी जब तक दुनिया बची हुई है।

नतीजतन इनमें नाउम्मीदी कहीं नहीं। समझौते नहीं, नाकामी नहीं, नाफरमानी नहीं, नादानी नहीं। बल्कि कुदरत, कायनात, आदमीयत की नजाकत, नफासत और नुसरत को बचाए रखने की अद्भुत शक्ति हर क्षण बह रही है। जीवन की विषंगतियों और विषमताओं के बीच गहरी उम्मीद के जुगनुओं से भरी हैं ये कथाएँ।

डॉ. अनिल पुष्कर, कवि, उपन्यासकार, आलोचक

डॉ. मुन्नी गुप्ता, कवि, अनुवादक, आलोचक

आम जीवन के कथाकार –डॉ. गंगाप्रसाद विमल

– डॉ. गौरी त्रिपाठी

डॉ गंगाप्रसाद विमल जी का नाम हम सबसे पहले अकहानी आंदोलन के प्रणेता के तौर पर लेते हैं। उनकी कहानियाँ आम जनमानस पर आधारित होती थीं। आम इंसानों के छोटे-छोटे सुख, छोटे-छोटे दुख, उनकी परेशानियाँ, सोच, सपने, काम करने का तरीका, यह सब कुछ उनकी कहानियों के मुख्य विषय हुआ करते थे। कहानी एक ऐसी विधा है जो लगभग हर युग में लोकप्रिय रही है लेकिन स्वतंत्रता के बाद कहानियाँ सबसे ज्यादा लिखी जाने लगीं। नई कहानी हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। इस संदर्भ में प्रख्यात कथाकार कमलेश्वर ने कहा था- 'नई कहानी में कहानी की समग्रता को ही प्रश्रय मिला और यह स्पष्ट हुआ है कि कहानी बनाई नहीं जाती ,वह स्वयं अपना रूप ग्रहण करती है और इस प्रयास के साथ कहानी की सारी पच्चीकारी और शिल्प कहानी के नए स्थापित स्वतंत्र अस्तित्व में पर्यवसित हो गया।'[1]

नई कहानी आंदोलन का एक नया प्रयोग कहानी के रूप में बहुत चर्चित होता है, जिस के अग्रणी माने जाते हैं गंगा प्रसाद विमल। इनकी कहानियों का कथानक आम आदमियों से जुड़ा हुआ है। उनका मानना था कि कविता के बजाय कहानी में बातें अच्छे ढंग से कही जा सकती हैं। उनका कथा साहित्य काफी व्यापक है। इसलिए हम इसे समग्रता में ही देखें तो ज्यादा बेहतर है।

जीवन में घटी हुई कोई एक छोटी सी घटना भी जीवन और कहानी दोनों लिए काफी अहम हो जाती है। उनके सातों कहानी संग्रहों में यह तत्व काफी मिलता है। इन कहानियों में बच्चा, इंतजार में घटना, सड़क पर आत्महत्या, अपहरण आदि कहानियों का नाम लिया जा सकता है। कथावस्तु में मन के भाव भी बहुत अहम भूमिका निभाते हैं ,इससे कहानी का महत्व ज्यादा जीवंत हो जाता है। ये सब मनोभाव कहानियों में प्रमुखता से मिलते हैं, जैसे मेरी कथा यात्रा, प्रेत, अभिशाप, सुराख, समय, बंद दरवाजे के भीतर, सन्नाटा, बीच की दरार, होने से पहले इत्यादि। इनके द्वारा रचित 'प्रेत' एक मनोवैज्ञानिक कहानी है। कथा के नायक को एक पत्र मिलता है जिसके अनुसार वह प्रेतात्मा है। वह अपने मन ही मन में सोचता रहता है कि क्या वाकई वह प्रेत है। कथा के अंत तक वह इन बातों से मुक्ति पाना चाहता है। 'अभिशाप' कहानी में भी कुछ इसी प्रकार का ताना-बाना रचा गया है। गंगा प्रसाद विमल ने एक जगह लिखा है- 'अक्सर मुझे वे नवयुवक भी मिलते जो राजनीति की बातें किया करते और अंत में बिना निर्णय पर पहुँचे लड़ कर एक दूसरे से अलग जा बैठते'[2]

समकालीन कहानियों में प्रतीकात्मकता एक प्रमुख विशेषता के तौर पर उभरती है। सन्नाटा, खंडहर विध्वंस ,जानवर, एरीना आदि कहानियाँ प्रतीकात्मक हैं। यह प्रतीकात्मकता खामोशी की, चुप्पी की और जीवन में फैली उदासियों की होती है। गंगा प्रसाद विमल के अनुसार- 'इन 5 दिनों में गली मोहल्ले पार्क को बाजारों में जहाँ-जहाँ मैं गया हूँ मुझे महसूस हुआ है कि लोग धीरे-धीरे गूँगे हो रहे हैं और हर गूँगा आदमी बहरा भी होता है खतरा सिर्फ यह है अगर तुम गूंगे का अर्थ समझ जाओ तो तुम्हें पता चलेगा।'[3]

विध्वंस कहानी प्रतीकों पर लिखी गई उत्कृष्ट कहानी है युद्ध के उपरांत जो कुछ भी नष्ट होता है, वह जिंदगी को तबाह कर देता है। कहानी का नायक 16 साल बाद भी उस घटना को नहीं भूल पाता। इसी तरह खंडहर कहानी उम्र के ठहर जाने का प्रतीक है। जीवन की संध्या काल में वृद्धावस्था आती है लेकिन जाती नहीं। यह सिर्फ शरीर का ही ठहराव नहीं होता है बल्कि जीवन मन सब खराब हो जाता है। लेखक के अनुसार वह एक दोस्त ध्वस्त जीर्ण खंडहर राज भवन 'उस आदमी के चेहरे पर जैसे वह सब कुछ अंकित हो उस चेहरे के साथ ही आ खड़ी हुई थी ध्वस्त ,पुरानी किंतु अतीत की आलीशान इमारत।'[4]

यह सभी यथार्थ जो कहानियों में आते हैं, वह समाज की यथार्थ जिंदगी से जुड़े होते हैं। इसीलिए रचनाकारों का कथा साहित्य समाज का ही हिस्सा होता है। डॉ विमल के कथा साहित्य का कथानक अपने तरीके से स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त होता है। परिवार ,समाज और देश के सभी रूपों को वह अपने कथाओं का विषय बनाते हैं। मनुष्य जीवन के सभी पहलुओं पर उन्होंने रचा है।

आत्महत्या जैसे विषय पर भी वे कहानियाँ लिखते हैं। कैसे कोई व्यक्ति आधुनिक समाज में बढ़ रही घुटन भरी जिंदगी को जब बर्दाश्त नहीं कर पाता है तो आत्महत्या का सहारा लेता है। वे अपनी कहानियों में जीवन के अवांतर कथा व तथा अतीत का सहारा लेते हैं। अतीत के अनुभव और आने वाले भविष्य की चिंता को लेकर उन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं। इधर-उधर, बीच की दरार, अतीत में कुछ, सिद्धार्थ का लौटना, कभी नहीं, उसकी पहचान, खोई हुई या कि कोई, शुरूआत, कथाएँ इन्हीं मनोभावों पर रची गई हैं।

रचनाएँ परिवेश पर भी बहुत कुछ आधारित होती हैं। जैसा जीवन वह जिया होता है या कथाकार जिस युग में रहता है, उस युग के परिवेश को भी अपनी कहानियों में स्थान देता है । डॉ. विमल ने शहरी और ग्रामीण दोनों जिंदगियों को बहुत नजदीक से देखा है। इसलिए नगर और शहर नगर और गाँव दोनों ही उनके कथा साहित्य में आते हैं । शहर ज्यादातर भ्रष्टाचार के गढ़ होते हैं, वर्तमान समय में प्रत्येक व्यक्ति अपने को शहर से जोड़ने के लिए मजबूर है और

शहर में आकर यह मजबूरी बहुत कुछ घुटन में बढ़ती चली जाती है। एक रेलवे स्टेशन का वर्णन उन्होंने 'बाहर ना भीतर' कहानी में किया है जो बहुत कुछ लगभग सभी महसूस करते हैं-

'यह भी अच्छा हुआ अब लेटे लेटे मैं एक बहुत बड़े स्टेशन की अंदरूनी क्षेत्रों की कड़ियों पर टिके कबूतरों के घोसले और मधुमक्खियों के छत्ते देख रहा था, वहाँ तक दुनिया भर के नाम लिखे हुए थे। किसी ने अपना पता, टेलीफोन नंबर और किसी किसी ने तो वहाँ वंश वृक्ष का पूरा इतिहास ही लिखा हुआ था। उनमें गालियों प्रेमिकाओं के नाम और मिलने की जगहों तक का व्यवहार लिखा हुआ था।'[5]

गंगा प्रसाद विमल की कथाओं में ग्रामीण जीवन के प्रति भी एक मोह दिखाई पड़ता है। जाहिर सी बात है गाँव आज के दौर का एक नॉस्टैल्जिक शब्द है। बच्चा, अतीत में कुछ, बीच की दीवार, मैं भी खोई हुई, थाती, संबंध, अगले दिनों में, कल्याणी, कभी नहीं कहानियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। एक ऐसी कहानी है -कल्याणी जिसका वर्णन हमें गाँव में ले जाता है- 'कल्याणी का घर सुदूर दक्षिण केरल के एक गाँव में है कि मुझे किसी स्वप्न परी के देश के समान लगा था। चारों तरफ गहरी हरियाली का मेरे लिए यही अर्थ था कि यहाँ के लोग काफी मेहनती होंगे। झील के तटों पर घर-गाँव सचमुच ये सब कुछ स्वप्न के समान था लेकिन बाद में मुझे ऐसी रुक्षता महसूस हुई थी कि वहाँ कुछ अधिक नहीं भोग पाया था।'[6]

कुछ ऐसे भी पात्र होते हैं जो शहर में तो आ जाते हैं लेकिन वे गाँव को नहीं भूल पाते हैं। वे संक्रमण की स्थिति में जीते रहते हैं। जाहिर सी बात है आम आदमी कुछ इसी प्रकार होते हैं। 'यूकेलिप्टस' की नायिका भी शहर में किसी कारण वश आ तो जाती है लेकिन वह अपने गांव से आज भी मानसिक तौर पर जुड़ी हुई है। वे अपने कथा साहित्य में भाषा के प्रति काफी सजग दिखाई पड़ते हैं। 'बाहर न भीतर' कहानी का पात्र पुलिस वाला है, वह काफी भ्रष्ट है। उसकी भाषा का एक उदाहरण देखें -'यह तो हम खुद निपट लेंगे। हमेशा का धंधा है। साहब इन लोगों ने तो पैसे नाड़े के छेदों में छिपा कर रखे होंगे। सब निकाल देंगे साहब।'[7]

वे अपनी संवाद योजना में क्षेत्रीय बोलियों का भी बहुत इस्तेमाल करते हैं। जैसे पंजाबी, गढ़वाली, बांगड़ी इत्यादि । उनकी कथा साहित्य में ज्यादातर गंभीर संवाद दिखाई पड़ते हैं जैसे 'आत्महत्या' कहानी का एक पात्र अपनी जिंदगी से जूझ रहा है। वह अपने मित्र से कहता है - 'लंबी सजाओं को तो जिंदगी मिली है, मैं एक जगह के मुश्किल से बरी हुआ तो अब यहाँ मुक्त जिंदगी में भी खुद को फँसा हुआ महसूस करता हूँ। फ्रीडम की कैद में हूँ दोस्त।'[8]

यह आधुनिक जीवन की त्रासदी है, जिससे हम सभी कभी न कभी रूबरू होते हैं। संवादों में भी एक जीवंतता हमेशा दिखाई पड़ती है। जैसे- जैसे हम आगे बढ़ते जा रहे हैं कथा साहित्य

की भाषा भी बदलती जा रही है। नए -नए शब्द उसके परिवार में बढ़ते चले जा रहे हैं। कहीं वे यथार्थ को उभारती हैं और कहीं कल्पना के सपने रखने में मदद करती हैं। गंगा प्रसाद विमल के कथा साहित्य में पात्र बहुत ही स्वाभाविक होकर एक दूसरे के साथ बोलते हैं। 'कोई भी थाती' कहानी में एक बहन अपने भाई को एक ताबीज गुम हो जाने पर किस प्रकार डाँटती है। देखें - 'तूने जीवन की सबसे अमूल चीज खो दी दुष्ट ।और वह जैसे किसी दूसरी दुनिया में खो जाती । कहीं दूर देखने लगती या चुप हो जाती।'[9]

डॉ विमल ने अपनी लगभग सभी कहानियों में बहुत ही सरल एवं सहज भाषा का प्रयोग किया है। जो किसी को भी आसानी से समझ में आ जाती है। अपनी कथा यात्रा में भी स्वीकार करते हैं कि- 'आरंभिक कहानियों में जब अभी प्रचलित भाषा के आचरण के अनुरूप ही काम करना होता है। विचित्र से मोह होते हैं। वे मोह जिनका रहना भर आवेगात्मक जरूरत होती है। ऐसी कहानियों में चरित्रों का बाहरी रूपाकार चित्रांकित होता है। भीतर की पेचीदगियों से धीरे- धीरे सामना होता है ,धीरे- धीरे ..तब धीरे- धीरे कहानियों के वे ब्योरे, यथार्थ का यथातथ्य रूपायन, उद्देश्य को व्यक्त करने की सायास कोशिश, भाषा का रूमानी आचरण -सब कुछ व्यर्थ लगने लगता है।'[10]

नौजवान पीढ़ी बेरोजगारी के कारण प्रसिद्ध है। निराशा उनकी जिंदगियों का दूसरा नाम है। जिंदगी भर लड़ाई लड़ते चले जाते हैं, इन सभी पहलुओं को विमल जी ने प्रतीकात्मक भाषा में अपनी कहानियों में रचा है। डॉ. विमल ने अपने कहानियों की भाषा को भावानुसार युग के अनुकूल और चरित्रों के अनुसार ढाला है। समकालीन कहानियाँ आज भी लिखी जा रही हैं लेकिन कुछ ऐसे रचनाकार होते हैं, जो कालजयी लिखकर अमर हो जाते हैं। गंगा प्रसाद विमल कुछ इसी किस्म के रचनाकार थे जिन्होंने कथा साहित्य में आम आदमी की पीड़ा को रखकर उन्हें कालजयी बना दिया।

संदर्भ सूची :

1. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, पृष्ठ संख्या 192
2. डॉ.- गंगा प्रसाद विमल, चर्चित कहानियाँ (कहानी संग्रह) अभिशाप, पृष्ठ संख्या 93
3. डॉ .गंगा प्रसाद विमल, बाहर न भीतर (कहानी संग्रह) सन्नाटा, पृष्ठ संख्या 15
4. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, खोई हुई थाती खंडहर, पृष्ठ संख्या 101- 102
5. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, बाहर भीतर, सन्नाटा, पृष्ठ संख्या 20
6. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, बाहर न भीतर, कल्याणी, पृष्ठ संख्या 71

7. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, बाहर न भीतर, पृष्ठ संख्या 28

8. डॉ.-गंगा प्रसाद विमल, चर्चित कहानियाँ, आत्महत्या, पृष्ठ संख्या 22

9. डॉ.गंगा प्रसाद विमल, खोई हुई थाती, पृष्ठ संख्या 12

10. डॉ. गंगा प्रसाद विमल, मेरी कथा यात्रा, पृष्ठ संख्या 10

- एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
गुरु घासीदास केंद्रीयविश्वविद्यालय
बिलासपुर छत्तीसगढ़।

'समीचीन' के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई-400054

गंगाप्रसाद विमल के साहित्य में हाशिए के लोग

- डॉ. जयप्रकाश कर्दम

गंगाप्रसाद विमल मानवीय संवेदना के साहित्यकार हैं। विमल जी का बचपन पहाड़ों में बीता और बाद का जीवन और कार्यक्षेत्र दिल्ली जैसे महानगर में। इसलिए बहुत स्वाभाविक रूप से उनकी रचनाओं की विषय वस्तु और पात्र ग्राम और शहर दोनों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए उनके लेखन में एक ओर प्रकृति, पहाड़ और गाँव हैं, तो दूसरी ओर नगर और महानगर हैं। उनका लेखन, एक तरह से देखा जाए तो, गाँव और शहर के बीच तथा नैसर्गिक और निर्मित के बीच आना-जाना है। अपनी इस आवाजाही में वह नैतिकता और अनैतिकता, यथार्थ और कृत्रिमता, तथा परम्परा और आधुनिकता के विश्वासों और मूल्यों से टकराते हुए आगे बढ़ते हैं। वह अपनी रचनाओं में कुछ नया गढ़ते या रचते नहीं हैं अपितु जो है उसे ही विभिन्न कोणों से जानने, समझने की कोशिश करते हैं। वह न कुछ बताते या समझाते हैं और न किसी भी व्यक्ति, विचार या वस्तु की व्याख्या करते हैं। बस, सहज रूप से अभिव्यक्त करते हैं।

विमल जी के साहित्य से गुजरते हुए हम यह देखते हैं कि उनके कहे में बहुत कुछ अनकहा होता है और अनकहा बहुत कुछ कहता है। शायद यह कहा, अनकहा ही गंगा प्रसाद विमल के शब्दों में मालूम और नामालूम है। इसी मालूम और नामालूम को ही वह अपनी कविता और कहानियों में अभिव्यक्त करते हैं। यथा- 'जो मालूम है उसे नामालूम बनाने के लिए मैं कविताएँ लिखता हूँ और जो नामालूम है उसे एकदम विश्वसनीय बनाते हुए कहानी। और सबसे बड़ा सच है कि मैं हर विधा में सिर्फ कहानी ही लिखता हूँ।'[1] मालूम को नामालूम और नामालूम को विश्वसनीय बनाना सरल नहीं है। इसके लिए कौशल चाहिए, और कहने की आवश्यकता नहीं है कि गंगा प्रसाद विमल में ऐसा करने का कौशल था।

जिस तरह का विमल जी का सहज, सरल व्यवहार था, वैसी ही सहजता और सरलता उनके लेखन में है। उनकी रचनाओं में किसी तरह का कोई दुराव, छिपाव या भटकाव नहीं है। न वह किसी मत के पक्ष में खड़े होते हैं और न विरोध में दिखायी देते हैं। दूर खड़े होकर जीवन को जैसा देखते हैं, वैसा ही चित्रित कर देते हैं। उन्हें कुछ भी कहने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, सब कुछ उनकी चेतना से स्वतः बाहर आता है। हाशिए के लोग भी उनकी रचनाओं में इसी तरह आए हैं। उनके प्रति विमल जी कोई सहानुभूति व्यक्त नहीं करते हैं और न करुणा दिखाते हैं। हाशिए की दुनिया का सच क्या है, तथा समाज का उनके प्रति क्या दृष्टिकोण और

व्यवहार है, वह इसको बारीकी से देखते हैं और यथावत अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करते हैं।

भारत में हाशिए के लोगों की पहचान वैसी नहीं है जैसी इसके बारे में अँटोनियो ग्रामसी की संकल्पना है, उससे भिन्न है। भारत में, हाशिए के लोग दो तरह के हैं। एक वह, जो आर्थिक रूप से कमजोर तथा श्रम करके अपनी आजीविका चलाते हैं। दूसरे, सामाजिक रूप से निम्न जातीय और अस्पृश्यता के कारण समाज की मुख्यधारा से अलग-थलग और हाशिए पर रहने वाले लोग। हाशिए के ये लोग मेहनत को अपना ईमान तथा सत्य और नैतिकता को धर्म मानते हैं। ईमानदारी के रास्ते पर चलते हुए रात-दिन कड़ी मेहनत करके भी उनका जीवन कष्टमय और संघर्षपूर्ण बना रहता है, जबकि दूसरी ओर झूठ और बेईमानी से निरंतर सम्पन्न होते लोग हैं। ईमानदारी और सत्य के मार्ग पर चलकर यदि पेट नहीं भरता है तो ये मूल्य किस काम के हैं।

अदम गोंडवी का प्रसिद्ध शेर याद आ रहा है-'चोरी न करें झूठ न बोलें तो क्या करें, चूल्हे पे क्या उसूल पकाएँगे शाम को।' हाशिए के लोगों के इस दर्द दो गंगा प्रसाद विमल की कहानी 'आत्महत्या' के एक पात्र के उन शब्दों से अच्छी तरह समझा जा सकता जो, आत्महत्या करना चाहता है और आत्महत्या करने से पहले एक पत्र लिखता है, जिसमें वह लिखता है, 'हाँ, मैं आत्महत्या कर रहा हूँ, इसलिए कि कोई विकल्प नहीं है। मूल्य, नारे, ईमानदारी और सच्चाई'..ये सब बातें झूठी हैं। जो लोग मूल्यों, ईमानदारी और अच्छाई के झूठ से बँधे नहीं हैं, वे सुखी लोग हैं। भौतिक रूप से सम्पन्न लोग। ये ही वे लोग हैं, जो अपेक्षा रखते हैं कि कोई गरीब मास्टर गरीब बच्चों के मन में बचपन से ही धर्म, दया आदि के बीज बो डाले, ताकि इन बंधनों में जीवन भर बँधे रहें। वे बैल की तरह समाज का सारा भार ढोते रहें-'हमेशा के लिए दब जाएँ, जिसके रहते वे कभी अपना हक न माँग सकें। इन उपदेशों से पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ कायर और नपुंसक बनी पड़ी हैं।'[२]

समाज समता के मूल्यों पर निर्मित और विकसित होता है। समाज की संकल्पना में जो कुछ होता है, मिला-जुला होता है, उसमें हाशिया जैसी किसी चीज के लिए कोई स्थान नहीं है। हाशिए का निर्माण किया जाता है। हाशिए का समाज कैसे बनता है, आत्महत्या करने वाले युवक के इन शब्दोंसे इस तथ्य को बहुत सहजता से समझा जा सकता है। कहानी यह संकेत करती है। कि चतुर-चालाक लोगों द्वारा, झूठ, बेईमानी और छल-कपट से सीधे-सच्चे और ईमानदार लोगों को मूर्ख बनाकर उनका शोषण किया जाता है। सदैव सत्य बोलना, चोरी न करना, ईमानदारी का आचरण करना, दीन-दुखियों की सेवा करनाऔर ईश्वर में विश्वास करना, ये सब धर्म की शिक्षा के अंग रहे हैं। निम्न वर्ग या हाशिए के समाज इन सब का पालन

करता रहा है। और अपने साथ होने वाले धोखे, बेईमानी, और शोषण को भी इस संतोष के साथ सहता है कि भगवान देखेगा और न्याय करेगा। लेकिन कोई भगवान उसके साथ न्याय नहीं करता, न अन्याय और शोषण करने वालों को कोई सजा देता है और न उसे शोषण से मुक्ति दिलाता है। आत्महत्या करने वाला युवक अपने पत्र में यह लिखता है, 'डकैत, तश्कर, चोरबाजारिए'.वे लोग तो मानव-मूल्य या मानव-करुणा या सच को ताक पर रख, बहुत ही क्रूरतापूर्ण ढंग से अपनी तिजोरियाँ भरे जा रहे हैं, और मैं स्कूल में बच्चों को पढ़ा रहा था कि झूठ बोलना पाप है,, हमेशा सच बोला करो, दीन-दुखियों की मदद के लिए आगे आओ.।'[3]

दया, धर्म, ईमानदारी, न्याय, नैतिकता, ये सब किताबी आदर्श की बातें हैं, जो पढ़ने, कहने या सुनने में अच्छी लगती हैं, लेकिन व्यवहार के धरातल पर इनका कोई मूल्य नहीं है। आत्महत्या करने वाला युवक अच्छी और नैतिक शिक्षा के नाम पर पढ़ायी और सिखायी जाने वाली इन बातों के खोखलेपन और अर्थहीनता को अच्छी तरह जानते समझते हुए भी विद्यार्थियों को वही सब बातें पढ़ाने के लिए स्वयं को अपराधी समझता है। वह महसूस करता है कि अच्छी कही जाने वाली लेकिन अव्यावहारिक बातें पढ़ाकर वह उन लोगों के साथ न्याय नहीं कर रहा है जिनका शोषण इन सब बातों पर अमल करने के कारण ही होगा। उसका दर्द उसके इन शब्दों में अनुभव किया जा सकता है, 'क्या दे सकता हूँ मैं अपने बच्चों को?' 'क्या छोड़ सकता हूँ विरासत में सिर्फ. भूख'..कर्ज़–पराजय––और एक निकम्मी सी धारावाहिक प्रतीक्षा'मैं उन लोगों को जानता हूँ जो हमारी सुरक्षा के लिए सीधे ज़िम्मेदार हैं, पर मैं उनका कर ही क्या सकता हूँ।'[4]

इस दर्द को कहानी के एक अन्य पात्र धर्मराज के इन शब्दों से और गहराई से समझा जा सकता है, जो वह विमल से प्रश्न करते हुए कहता है, 'कभी आप कल्पना कर सकते हैं कि कोई मजदूर पिछले सात वर्ष से सुबह-शाम का खाना जुगाड़ने के लिए मेहनत किए जा रहा हो और और वह 'जीवन हर रोज दुष्कर बनाता जाता है।'[5]

हाशिए के लोगों का शोषण की चक्की में पीसने का यह सारा खेल धर्म की धुरी पर चलता है। धर्म के नाम पर, धर्म की अफीम खिलाकर ही उनका शोषण किया जाता है। ईश्वर यदि धर्म के व्यापार का ब्रांड नेम है तो मंदिर एक ट्रेड सेंटर की तरह है। धार्मिक मूल्यों में विश्वास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को यहीं आना है और यहीं पर अपनी जेब खाली करके जाना है। यही वह तंत्र है जो हाशिए के समाज का निर्माण करता है। धर्मराज, विमल से यही कहता है, 'धर्म, मंदिर'..विश्वास, ये चीजें आदमी को बेचारा साबित करने में लगी हैं।'[6]

हाशिए के असली लोग वह हैं जो वर्ण-जाति-व्यवस्था के कारण सामाज से अलग-थलग,

उपेक्षित और हाशिए पर हैं। जो गाँवों का हिस्सा होकर भी वे गाँवों के अंदर नहीं रह सकते,उनकी बस्तियाँ गाँवों से बाहर एक खास दिशा में होती हैं। यूँ तो वे आर्थिक रूप से भी विपन्न होते हैं, किंतु यदि इस समाज का व्यक्ति आर्थिक रूप से सम्पन्न हो जाए तो भी गाँव के बीच में घर उसका बनाकर रहना उच्चजातीय लोगों को स्वीकार्य नहीं होता है। इसके अलावा, वर्ण-व्यवस्था द्वारा निर्धारित पेशे या कार्य ही प्रायः हाशिए के इन लोगों को करने पड़ते हैं। धर्म के उपदेश भी इन लोगों में ही सबसे अधिक दिए जाते हैं। मानो ये ही सबसे अधिक अधार्मिक लोग हों।

आर्थिक और जातिगत आधार के अलावा दो अन्य तरह के लोग, हाशिए के लोग होते हैं। एक ग्रामीण हाशिए के लोग और दूसरे शहरी हाशिए के लोग। ग्रामीण हाशिए केलोगों में कुछ के पास अपनी थोड़ी-बहुत कृषि भूमि भी होती है, किंतु अधिकांश लोग भूमिहीन कृषि मजदूर होते हैं, वे दूसरों के घर और खेतों में काम करते हैं। इन लोगों के पास, बेशक कच्ची मिट्टी के हों या पक्की ईंटों के, प्रायः अपने घर होते हैं। किंतु शहरी हाशिए के लोगों में कोई निर्माण कार्यों में ईंट और तसला धोने का काम करता है, कोई रिक्शा चलाता है, सब्जी बेचता है, कोई दूसरों के घर, दुकान या कारखानों में काम करता है, और कोई सड़क के किनारे पटरी पर सामान बेचता है या छोटी मोटी चाय की दुकान या ढाबा चलाता है। जहाँ दो फुट की जमीन में ही उनका धंधा और घर चलता, पलता है। कुछ लोग झुग्गी-झोंपड़ियों में रहते हैं और कुछ सड़कों के किनारे आसमान की छत के नीचे। कुछ किराए के कमरे लेकर रहते हैं। बहुत कम लोगों के पास ही अपने घर होते हैं।

रोटी और रोजगार की तलाश में अपने घर-गाँव छोड़कर नगरों-महानगरों को विस्थापन करने वाले श्रमिक हों अथवा गाँवों में उच्च जातियों के अत्याचार और शोषण से मुक्ति पाने के लिए अपनी जमीन से उजड़कर अन्यत्र जाकर रहने को विवश निम्न जातियों के लोग, वे सब हाशिए के लोग हैं। गंगाप्रसाद विमल जी अपनी कविताओं में श्रमिकों के विस्थापन के दर्द को महसूस करते दिखायी देते हैं। भूखे, नंगे, अभावग्रस्त, मन में अतीत की यादें और आँखों में भविष्य के सपने लिए, कमर में लगे पेट, पिचके गालों के साथ रोटी की जुगाड़ में यहाँ-वहाँ भटकने वाले ये श्रमिक ज़िंदा लाशों की तरह हैं। अपनी एक कविता में वह कहते हैं, '..मैंने उन्हें चलते ही देखा /सड़क किनारे रेवड़ों में /सरों पर लादे /बेतरतीब सामान /वे शांति की तलाश में थे वहाँ /सुकून की /कौन कहे /चलते हुए सपनों की स्मृति /हर ठोकर की कल्पना पर ही /विलो जाती है विस्मृति में/ मैंने उन्हें चलते ही देखा /आज भी ढोते हुए अपने शरीर /वे चलते ही रहते हैं कर्मवीर /पुरुषार्थी'[7]

गंगाप्रसाद विमल हाशिए के इस समाज को पहचानते हैं, और इन हालातों में वे कैसे ज़िंदा

रहते हैं, इसे एक चमत्कार के रूप में देखते हैं। 'बदहवास' कहानी का नायक इसका चित्रण इस प्रकार करता है, 'जिस चमत्कार की बात मैं कर रहा था, वह देशकाल का चमत्कार वहीं घटित था, यानी दो फुट चौड़ी और अनंत विस्तार जैसी लम्बी उस पटरी पर। आधा फुट जगह खाने वालों ने घेरी हुई थी, आधा फुट चमचमाते बर्तनों ने और एक फुट में गृहस्थी का वह राजभवन था। उसमें चीकट हुए बिस्तर थे। उन्हीं बिस्तरों से सटे एक कोने में एक छोटा-सा बच्चा फटी हुई चादर से अपना सोया हुआ जिस्म झलका रहा था।'[8]

इन हालातों में संघर्ष करके भी जो जीवंतता के साथ जी सकता है, वह बड़ी से बड़ी चुनौती का सामना कर सकता है। लेखक को इस चमत्कार में बेहतर भविष्य की आशा दिखायी देती है कि एक दिन यह चमत्कार अपनी वर्तमान परिस्थितियों पर विजय अवश्य पाएगा। उसकी यह आश्वस्ति उसके इन शब्दों में अभिव्यक्त हुई है, 'अचानक मुझे उस बच्चे की तस्वीर ने खींच लिया, जो वहीं कहीं मेरी स्मृति में थी। मुझे याद आया, फटी हुई चादर उसके साँस लेने से ऊपर नीचे हो रही थी। मुझे याद आया उसके चेहरे पर मुस्कान तैर रही थी-कभी न कभी, कहीं न कहीं, वह भविष्य में झाँक रहा था' 'एक खौफनाक वर्तमान के विरुद्ध उसकी सजीली, कमसिन मुस्कान जैसे एक झंडे की तरह खड़ी थी। अडिग।'[9]

धर्म और पूँजी दोनों हाशिए के लोगों का शोषण करते हैं। धर्म बौद्धिक दास बनाकर लूटता है और पूँजी शारीरिक रूप से निचोड़ती है। शोषण करने के मामले में गाँव के सामंत और शहर के पूँजीपति में कोई अंतर नहीं है। दोनों ही उसका शोषण करते और लूटते हैं। अधिक से अधिक मुनाफे पर अपनी गिद्ध दृष्टि जमाए पूँजी ने आज अपना रूप बदल लिया है। गंगा प्रसाद विमल पूँजी के इस बदलते रूप और चरित्र को बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं, तभी वह कहते हैं, 'इसमें कोई दो राय नहीं है। व्यवस्थाएँ विकसित होती रहती हैं। परंतु मनुष्य को लूटने की दृष्टि से जिन सुविधाओं की विज्ञापन और प्रचार द्वारा बढ़ा-चढ़ा कर विज्ञप्ति की जाती है, वह शोषण का नया तरीका है। पहले आदमी के श्रम पर कुछेक पूँजीपति डाका डालते थे, अब पूँजीपति घराने, कारपोरेट जगत विश्व को'[10]

जातिगत ऊँच-नीच का ज़हर भारतीय समाज में इतने गहरे तक व्याप्त है कि इसने मानवीय संवेदना के स्रोतों को भी सुखा दिया है। मुँह देखकर बात करने वाले समाज में भी लोग जाति देखकर बात और व्यवहार करते हैं। निम्न जातियों के प्रति उच्च जातियों के मन में कोई अपनापन और सद्भाव नहीं है। उच्च जातियों की दृष्टि में मनुष्य के रूप में उनका कोई मूल्य नहीं है। कम से कम अपने जैसे, अपने सामान मनुष्य के रूप में तो उनकी कोई स्वीकृति नहीं है। विमल जी की कहानी 'बच्चा' भारतीय ग्रामीण जीवन के इस कटु यथार्थ को अत्यंत ईमानदारी से अभिव्यक्त करती है। हवेली से गिरकर एक बच्चा मर गया। औरतों का हुजूम उमड़ आता है।

वे सब कुलीन औरतें हैं। आती है, रोती हैं, मातम मनाती हैं। किंतु यह पता चलते ही कि बच्चा सबरी धोबिन का है, सबकी आँखों के आँसू गायब हो जाती हैं और सब उठकर चली जाती हैं। कहानीकार ने बहुत खूबसूरती से इसका चित्रण किया है। 'श्रीमती परेश धड़धड़ाती हुई ठीक बीच में पहुँचीं और लेटे बच्चे को देख बोली, 'मेरा अंदाजा है कि यह सबरी धोबीं का लड़का है।'

'धोबिन का लड़का'.. 'भीड़ में सन्नाटा छा गया। औरतें हड़बड़ाहट में उठने लग गयीं। 'बेचारा मिस्टर गया' श्रीमती परेश के कहने पर भी कोई औरत रोने और मातम मनाने के लिए नहीं रुकी।

कुलीन और श्रीमंत कि स्म की औरतें जैसे घूँघट के बीच ही नाक-भौं सिकोड़ रही थी। धोबिन के बच्चे के लिए वे नहीं रुक सकती थीं। उसे छूने का तो सवाल ही नहीं उठता था।'[11]

दलितों के दर्द को वही सवर्ण ठीक से समझ सकता है और उनके प्रति सच्ची सहानुभूति रख सकता है जो अपनी जातीय श्रेष्ठता के झूठे सत्य को स्वीकार करता हो तथा अपनी और अपनी जाति की आलोचना कर सकता हो। हाशिए के समाज के प्रति गंगाप्रसाद विमल की समझ और सहानुभूति इसलिए ईमानदार दिखायी देती है कि वह जाति की कसौटी पर अपना मूल्याँकन करते हैं और अपनी जातीय श्रेष्ठता के झूठे सत्य को स्वीकार करते हैं। अपनी कहानी 'बीच की दरार' में वह इस सत्य को इन शब्दों में स्वीकार करते दिखायी देते हैं, 'ब्राह्मण होने की हैसियत से वह लोगों की जन्म कुंडलियाँ देखकर उनके भविष्य के बारे में कुछ बातें बताया करता था, लेकिन वह अपने केस के बारे में कुछ भी नहीं जानता था, यह बातें मुझे अचरज में डाले हुए थीं।'[12]

जातिगत ऊँच-नीच, भेदभाव और शोषण का आधार धर्म है, क्योंकि जिस वर्ण-व्यवस्था से जातियों की उत्पत्ति हुई है, उसकी जड़ें, ऋग्वेद में हैं, जिसे हिंदू धर्म का सबसे बड़ा धर्म-ग्रंथ माना जाता है। रामायण, महाभारत और वेद, पुराण की कथाओं के माध्यम से ब्राह्मणों ने निम्न जातियों को यह पाठ पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है कि उनकी दयनीयता, दरिद्रता और निम्नता उनके पूर्व जन्मों के कर्मों का फल है। और इस जन्म में वर्ण-व्यवस्था द्वारा निर्धारित कर्म कर, ईश्वर को प्रसन्न करके वे अगले जन्म में सुख पा सकते हैं। ऊपर वाला (अर्थात ईश्वर) बहुत दयालु है, वह सब दुःख दूर कर देगा। यही झूठी आशा उन्हें जीवन भर शोषण की जंजीरों में जकड़े रहती है। गंगा प्रसाद विमल इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। 'मैं भी जाऊँगा' कहानी में उनकी यह टिप्पणी उल्लेखनीय है, 'बस कुछ नहीं। एक लंबी फुर्सत। लोग फुर्सत में हैं। जो कुछ होगा वह पश्चिम से ही आएगा। यह अगर आप गौर करें तो एक तरह का ब्राह्मणवाद

है। ब्राह्मणों ने यह व्यवस्था पहले से की हुई है। जो कुछ होगा ऊपरवाला करेगा परंतु यह कहते हुए भी वह अपनी दक्षिणा झपोर लेगा।'[13]

संदर्भ-सूचीः

1. गंगा प्रसाद विमल, दस प्रतिनिधि कहानियां, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2006, पुरोवाक, 2. वही, पृष्ठ- 48, 3. वही, पृष्ठ-48-49, 4. वही, पृष्ठ-48, 5. वही, पृष्ठ-53, 6. वही, पृष्ठ-53, 7. सुधा उपाध्याय, विस्थापन से बड़ा दुःख नहीं, जानकीपुल डॉट कॉम, ३० दिसम्बर, २०१९ , 8. गंगा प्रसाद विमल, दस प्रतिनिधि कहानियां, किताबघर प्रकाशन, पृष्ठ-87-88, 9. वही, पृष्ठ-88, 10. गंगा प्रसाद विमल, कहानी-मैं भी जाऊँगा, हिंदी समय डॉट कॉम, 11. गंगा प्रसाद विमल, दस प्रतिनिधि कहानियां, किताबघर प्रकाशन, पृष्ठ-28, 12. वही, पृष्ठ-113, 13. गंगा प्रसाद विमल, कहानी-मैं भी जाऊँगा, हिंदी समय डॉट कॉम

43, संस्कृति अपार्टमेंट
सेक्टर-19 बी, द्वारका,
नई दिल्ली-110075
फ्टोनः 9871216298

वर्तमान संदर्भ में गंगाप्रसाद विमल जी की कहानी 'आत्महत्या' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

- डॉ. कोयल विश्वास

साहित्य के बदलते परिदृश्य में आज कई नए आयाम उभरकर सामने आ रहे हैं। परिवर्तन के दौड़ से गुजरते समाज की ऊँगली थामकर साहित्य का रूप भी बदल रहा है। आज का साहित्य व्यक्तिनिष्ठता से वस्तुनिष्ठता तथा कल्पना से वास्तविकता की ओर अग्रसर हो रहा है। साहित्यकार बहुधा चित्रकार की तरह कल्पना के कैनवास पर कलम रूपी तूलिका से अपनी भावनाओं का रंग भरते है। यही रंग अलग अलग विमर्शों का रूप लेकर सामाज को सजग कर रहा है। साहित्य के नवीनीकरण का श्रेय साहित्यकारों के आजीवन अथक परिश्रम का फल है।

अकहानी आंदोलन के प्रवर्तक तथा साहित्य जगत के अनमोल रत्न गंगा प्रसाद विमल जी प्रगतिशील लेखकों की श्रेणी में वंदनीय हैं, जिनके कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित हैं। अपने जीवनकाल में नवीनता को सदा आलिंगन बद्ध करने वाले विमल जी की कृतियों में कई नवीन बिंदुओं पर पाठकों का चिंतन, मनन एवं लेखन की आवश्यता है। जिन बिंदुओं को उनके साहित्य ने अनायास ही स्पर्श किया। संभव है उनकी चर्चा के साथ समाज के उन तत्वों का भी खुलासा हो, जिनकी ओर लेखक ने इंगित करने का प्रयास किया है।

उत्तर काशी के पहाड़ों में बसे टिहरी में ३ जून १९३९ को जन्मे विमल जी,गंगा के समान स्वच्छ, निर्मल एवं निनादमय थे। शिशु अवस्था में अपनी स्नेहमयी माता से बिछुड़ने के कारण जीवन को एक अलग दृष्टिकोण से ही उन्होंने देखा। अपनी बड़ी बहन के स्नेह तथा संयुक्त परिवार की देखरेख ने विमल जी के व्यक्तित्व को निखार दिया। इन्हीं संस्कारों के प्रभाव स्वरूप उनके स्वभाव में वैचारिकता एवं दार्शनिक प्रवृत्ति का अद्भुत समन्वय देखा जा सकता है। विमल जी के अपार ज्ञान भंडार की झलक उनकी रचनाओं में प्रतिबिंबित होती है।

विमल जी की कहानी 'आत्महत्या' में मनोवैज्ञानिक तत्वों का विवेचन :

विमल जी की कई कहानियों में हम मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों पर चिंतन-मनन कर सकते हैं। उनकी कहानी 'आत्महत्या' एक ऐसे ही दिल दहलाने वाली कहानी है। आज के समाज में तनाव एक भीषण समस्या है। लोग अनायास ही तनाव ग्रस्त हो रहे हैं। परिस्थिति ही ऐसी है कि इंसान जब तनाव को बर्दाश्त नहीं कर पाते, वह आत्महत्या का दामन पकड़ लेते हैं यह एक भयंकर रोग है, जिसके हाथों न जाने कितने परिवार बिखर चुके हैं। विमल जी ने यह देखा कि

चलते-फिरते मुसकुराते चेहरों के पीछे भीषण अवसाद की छाया, काले बादल की तरह मँडरा रही है।

अवसाद या तनाव के कारणों से भी विमल जी उन मनुष्यों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हैं, जो समय और समस्या से लड़ने का साहस तो नहीं कर पाते लेकिन आत्महत्या जैसा भीषण कष्टदायी रास्ता अपना सकते है। विमल जी मनुष्य के पारखी थे। उनकी आँखों में इंसान के शांत चेहरे के पीछे चल रहे मनोभावों का ऊफान छिप नहीं सकता था।

एक ऐसी ही घटना का खुलासा उनकी कहानी आत्महत्या में हुआ है। घटना चक्र के दौरान विमलजी दिल्ली के एक अखबार के दफ्तर में किसी जरूरी काम से गए हुए थे। लिफ्ट की तीन पंक्तियाँ थीं और बीच की पंक्ति में विमल जी खड़े अपने अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। दाहिने पंक्ति में एकाएक किसी सज्जन ने उन्हें नमस्कार की मुद्रा में अभिवादन किया। उनकी आँखों को देखकर विमलजी सिहर उठे। उस चिरपरिचित दृष्टि की पहचान उन्हें पंद्रह साल पहले ही हो गई थी। उस अनजान व्यक्ति की दृष्टि में एक स्थिरता, किसी निश्चय तक पहुँच जाने के बाद एक निश्चलता और कुछ कर जाने की जिद भी थी। लेखक को इस बात पर कोई शक नहीं था कि वह आदमी आत्महत्या करने वाला है।

पुरानी स्मृतियों में तैरते हुए विमलजी को अपने विद्यार्थी जीवन की एक और आत्महत्या की घटना याद आ गई। उनके दोस्त धनराज ने अपने सभी दोस्तों के बीच ऐलान किया था कि नये साल के दिन तुम मुझे नहीं पाओगे।

ठीक ३१ दिसंबर की रात जब विमल जी और उनके साथी जालंधर के कॉफी हाउस में नए साल के जश्न में एकत्रित हुए, धनराज भी वहाँ पहुँचा। उसकी आँखे लगातार कुछ ढूँढ रही थीं। उसकी आँखों में एक अजीब सी जिद थी। विमल जी न उन आँखों की भाषा से विचलित हो उठे थे। पास ही बैठे अपने मित्र कपिल मल्होत्रा से कहा कि धनराज कुछ कर बैठेगो मगर उस खुशी के मौके में किसी ने उन आँखों की तरफ ध्यान नही दिया। थोड़ी देर बाद जब धनराज वहाँ से उठकर निकल गया तब लेखक नशे की हालत में बड़बड़ाते अपने दोस्त कपिल मल्होत्रा को लेकर उसे ढूँढने निकले। धनराज कहीं नहीं मिला। अगले दिन सुबह पुलिस ने कपिल मल्होत्रा को सूचित किया कि नेहरू पार्क में एक नौजवान की लाश पड़ी मिली जिनके जेब में कपिल के घर का पता था। उस दिन कपिल जैसे गंभीर इंसान भी बच्चों की तरह रो पड़े थे क्योंकि लगातार एक हफ्ते से धनराज कहता गया कि नए साल में वह नहीं रहेगा पर किसी ने उसकी बातों पर ध्यान नहीं दिया था। विमल जी के इस अनुभव ने उन्हें यह भी सिखाया था कि आत्महत्या करने वाला इंसान अपने मनसूबों के बारे में किसी न किसी को जरूर कुछ बताता है।

इस घटना की स्मृति में उलझे विमल जी के सामने एक दूसरा व्यक्ति आत्महत्या की तैयारी कर रहा था। लेखक को याद आया कि लिफ्ट के कतार में खड़े जिस आदमी ने उनकी तरफ एक प्रणाम की मुद्रा को उछाल दिया था, वह किसी स्कूल का अध्यापक है। उसने दर्शन शास्त्र में एम. ए किया है। उसकी पत्नी बहुत ही खूबसूरत थी और उन दोनों के दो प्यारे बच्चे थे। इनके साथ कॉफी हाउस में कभी मुलाकात हुई थी। बेतहाशा दौड़ धूप करते हुए लेखक को वह आदमी आठवीं मंजिल पर मिल गया। लेखक ने उस आदमी को पकड़ लिया। कुछ हाथापाई के बाद उस आदमी ने धीरे से विमल जी के कंधे पर अपना सिर रख दिया। शायद किसी अनजान मगर सुरक्षित छाँव में विश्राम की तीव्र अभिलाषा से उसका मन बेचैन हो उठा था। धीरे-धीरे उसकी आँखें स्वाभाविक होने लगीं। लेखक के शब्दों में - 'मैं उसकी आँखों में झाँकने लगा। उनमें एक गीलापन तैर आया था-ग्लानि और बेबसी से भरा गीलापन।'

उसने एक पत्र विमल जी के हाथों में रख दिया। उसकी इच्छा थी कि कभी न कभी यह घटना एक कहानी बन जाए। वह पत्र समाज के राजनेताओं, शिक्षकों, समाज सुधारकों आदि को संबोधित करके लिखा गया था। पत्र का विवरण कुछ इस प्रकार था - 'हां, मैं आत्महत्या कर रहा हूँ, इसलिए कि अब कोई विकल्प नहीं हैं। मूल्य, नारे, ईमानदारी और अच्छाई, ये सब चीजें झूठी हैं। जो लोग मूल्यों, ईमानदारी और अच्छाई के झूठ से बंधे नहीं हैं, वे सुखी लोग हैं। भौतिक रूप से सम्पन्न लोग ये ही वे लोग हैं, जो अपेक्षा रखते हैं कि कोई गरीब मास्टर गरीब बच्चों के मन में बचपन से ही धर्म, दया आदि के बीज बो डाले, ताकि वे इन बंधनों में जीवन भर बँधे रहें। वे बैल की तरह समाज का सारा भार ढोते रहें, हमेशा के लिए दब जाएं, जिसके रहते वे कभी अपना हक न माँग सकें। इन उपदेशों से पीढ़ियों-की पीढ़ियाँ कायर और नपुंसक बनी पड़ी हैं।'

इस पत्र के माध्यम से उस आदमी ने शिक्षकों के साथ हो रहे अन्याय का भी एक प्रकार से पर्दाफाश किया है क्योंकि यह एक सत्य घटना है। लेखक ने भी उनके विचारों को पाठकों के समक्ष ज्यों का त्यों रखा है। उस पत्र में लिखा था कि तमाम मूल्यों की शिक्षा पाकर, परीक्षाओं में सर्वोत्तम होने के बावजूद भी उसे एक मामूली मास्टर की नौकरी ही मिल पायी जबकि सिफारिशों के पुल पर चढ़कर उसके कई साथी सफलता की मंजिल तक पहुँच गए। वह व्यक्ति दर्शनशास्त्र का स्नातक था परंतु सामाजिक गतिविधियों से उसका मन कुंठित हो चला था।

अपने बच्चों के भविष्य की चिंता में केवल अंधकार, नैतिक मूल्यों का पतन और ज्ञान के स्थान पर सिफारिश ही दिखाई दे रहा था। शिक्षक बनकर एक तरफ विद्यार्थियों को चोरी, धोखाधड़ी करने से मना कर रहे हैं तो दूसरी तरफ खुद समाज में व्याप्त इन अमानवीय एवं

नकारात्मक मूल्यबोध को देखकर भविष्य की चिंता में विषादग्रस्त होने लगे। धीरे धीरे उसे पूरे समाज से, उसके नियम से, चाटुकारिता की प्रवृत्ति से घृणा होने लगी।

कालक्रम में वह विषाद, अवसाद का रूप धारण कर लिया और उसमें आत्मघाती प्रवृत्ति ने जन्म लिया। शिक्षक के मन में भी कुछ ऐसी ही बात आई थी जैसे कि मरने से पहले २४ दिसंबर की रात धनराज ने ऐलान किया था, 'तुम, तुम्हारी दुनिया, तुम्हारे कानून, तुम्हारा न्याय, तुम्हारे मूल्य, सब पैसे के प्यारे हैं। यह व्यवस्था, ये संस्थाएँ सब टुच्चेपन से भरी हैं। आश्चर्य है कि आदमी इन्हें सहता है'।

विमल जी के प्रिय मित्र कपिल मल्होत्रा ने भी आत्महत्या कर ली थी। वह नशे की गोलियां लेते थे। हर साल विमल जी के जन्मदिन के अवसर पर कपिल मल्होत्रा एक पत्र भेजते थे। उन पत्रों में आशा भारी बातें होती थीं और एक बार ऐसा पत्र आया जिसे पढ़ने के बाद विमल जी को लगा कि संकट निकट है। कपिल ने भी मरने की बात की थी।

लेखक ने आत्महत्या के मनोवैज्ञानिक पक्ष का विश्लेषण करते हुए समझाने का प्रयास किया है कि हर परिस्थिति में मनुष्य जीवन की ओर देखता है न कि मृत्यु की ओर मगर जब किसी व्यक्ति के मन में उसकी भावनाओं के बीच लगातार द्वन्द्व होता है तो विवश होकर मन भी थक जाता है और अवसाद की स्थिति उत्पन्न होती है।

चाहे वह धनराज हो, स्कूल का मास्टर हो या स्वयं कपिल मल्होत्रा ही क्यों न हों, आत्मघाती प्रवृत्ति हर इंसान में होती है। इन तीनों के मनोविज्ञान में समरूपता दिखाई देती है। लेखक को इस बात का भी आभास मिलता है कि जो व्यक्ति अपने मूल्यों पर तटस्थ रहते हैं, उन्हें बिखरते हुए देखने पर उनका मन टूट जाता है और दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या भी अधिक है। लेखक मूल्यों को अमान्य करने की बात कभी नहीं करते मगर उसे समाज में प्रतिफलित न होने के कारणों पर चिंता व्यक्त जरूर करते हैं। समाज में सबसे बड़ी समस्या उस परिस्थिति की है, जहाँ कथन और कार्य में सामंजस्य नहीं है। पाठ्यक्रम में कुछ पढ़ाया जाता है तो जीवन कुछ और सिखाता है। जीवन के हर क्षेत्र में यहीं खोखलापन, वैमनस्य और शृंखलाविहीन नियम हैं।

विमल जी के मन में भी यह प्रश्न बार-बार उठता है कि आखिर आत्महत्या का कारण क्या है? अपने आप को समाज के नियमों के अनुरूप न ढाल पाने की अक्षमता या वह चरम विफलता का एहसास जिसमें मूल्यों के हनन करने वाले बुलंदी को छू रहे हैं और मूल्य बोध को आलिंगन बद्ध करने वाला इंसान समाज के अंतिम पायदान पर बैठा है? क्या आत्महत्या उन लोगों का आखरी निर्णय होता है जो समाज से लड़कर नहीं, मरकर एक उदाहरण बन जाते हैं?

मगर आत्महत्या करने वालों को अक्सर दुनिया हीन दृष्टि से देखती है। परिस्थिति से न लड़ पाने के कारण या अपने मानसिक द्वन्द्व में उलझकर जीवन से हार मान लेना ही तो अक्सर आत्मघाती प्रवृत्ति को जन्म देती है।

लेखक के मन में भी बार-बार यही प्रश्न प्रतिध्वनित होने लगता है- मेरा हक है। लेखक स्वयं न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियों से गुजर रहे थे। अध्यापक को तो उन्होंने बचा लिया पर जितनी बार उस पत्र को पढ़ते थे, कहीं न कहीं उन्हें अपनी छवि दिखाई देती थी। एक ऐसे पिता जो अपने बच्चों के स्कूल की फीस भरने के लिए उधार लिया हो, अपनी इच्छाओं को नैतिकता का जामा पहनाकर दबा दिया हो या किसी की संपन्नता को देखकर उन्होंने यह सोचा कि उनकी स्थिति भी किसी मजदूर के समान है जिन्हें अगले दिन की आमदनी के बारे में नहीं मालूम तो क्या वे भी आत्महत्या कर लें?

आत्महत्या किसी मर्ज की दवा नहीं, वह तो पलायनवाद (escapism) का एक दृष्टांत है। जीवन से, समस्या से, कर्तव्य से और कर्म से पलायन का सबसे भयंकर रास्ता। आत्महत्या एक अपराध के साथ-साथ समाज के लिए एक गलत संदेश भी है।

विमल जी की कहानियों में हमें आशावादिता और जीवनोन्मुखी संदेश मिलता है और साहित्य का वह उद्देश्य भी है। आत्महत्या जैसे एक प्रसंग पर अपनी लेखनी चलाने वाले साहित्यकार ने समाज को भी सचेत किया है और शायद अपने जैसे उन सभी लोगों को जो कठिन से कठिनतर और कठिनतर से कठिनतम परिस्थिति में भी सकारात्मक सोच रखते हैं।

निष्कर्ष :

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जहाँ लोगों में धैर्य का लोप होता दिखाई दे रहा है, युवाओं में जीवन से न जूझ पाने के कारण आत्मघाती घटनाएँ अखबार के पृष्ठों में हर दिन वृद्धि पाती हुई दिखाई दे रही हैं, लेखक गंगा प्रसाद विमल जी की कहानी उनके लिए एक संदेश है कि मृत्यु अनिवार्य है लेकिन जिंदगी की सुंदरता जीवन से ही तो है। समस्या हर एक जीवन में अतिथि के समान आती-जाती रहती है। मनोविज्ञान मनुष्य में उस मानसिक प्रौढ़ता के विकास पर बल देता है जिसे अक्सर लोग तुच्छ समझते हैं। यदि वर्तमान साहित्य में परिवर्तन लाना है तो दर्शन एवं मनोविज्ञान पर पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

साहित्य में ऐसे तत्व हों जिनके माध्यम से मनुष्य में संवेदना,सहनशीलता, सहिष्णुता और सबसे बढ़कर आत्मचिंतन की प्रवृत्ति उजागर हो सके। विमल जी की रचनाओं में विश्व साहित्य का रस है जिसे वास्तव में पूरे विश्व ने सराहा है।

उनकी इस एक कहानी के माध्यम से उन्होंने न जाने कितनी पीढ़ियों को सुखद भविष्य की

ओर अग्रसर होने का आशीष दिया है। विमल जी की रचनाओं के बारे में वेंडी राइट का कहना है कि :

"These stories are an invitation to enter the world of Ganga Prasad vimal. This is not a panorama of Indian life. This is not the Liffey of Joyce's Dubliners, where the banks are observed from a safe distance of Centre stream and the figures stand captured forever in their landscape while the river flows silently by. Here each small scene exists alone, with its own tiny drama and the author stands Centre stage, only able to perceive from the perspective he has imposed upon himself. He is not assuming some God-like stance, passing judgement, either moral or political.

A lofty view distances writer from life. They become merely observers. Vimal does not do that. Writing in the first person he is at the Centre of each situation. Sometimes events revolve around him but he makes no excuses that he stands outside of life and what happens, happens. He is prepared to take some responsibility…... He sees himself as different people in order to get inside their experiences and speak with their voices, providing a centrifugal perspective."[4]

संदर्भ सूची :

१. डॉ गंगा प्रसाद विमल, गंगाप्रसाद विमल की लोकप्रिय कहानियाँ, पृ सं 89, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली

२. वहीं पृ सं 89

३. वहीं पृ सं 95

4. Wendy Wright, The Talisman- Stories and poems of Ganga Prasad Vimal, Page no. x and xi, Yash Publications, New Delhi

- सहायक प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग

माउंट कार्मल कॉलेज, स्वायत्त, बैंगलूरू

मानुषखोर प्रतीकों, परंपराओं और सांस्कृतिक हलचल का जीवंत दस्तावेज

– नवीन चन्द्र लोहनी

प्रोफेसर गंगाप्रसाद विमल का उपन्यास मानुषखोर को अपने आप में भारत के अतीत और वर्तमान के साथ-साथ भारत की तमाम परंपराओं और सांस्कृतिक हिस्सों की भी याद कराता है। एक ओर यह शीर्षक मानुषखोर कौन है ? चर्चा शुरू से अंत तक मानुषखोर के रूप में ऐसे लोगों को लेकर भी है जो आज समाज को नष्ट कर रहे हैं, जो उनके मार्गदर्शक नेतृत्वकर्ता हैं। इस उपन्यास में मानुषखोर, नरभक्षी, बाघ, हड्डीचूरक नरभक्ष जैसे शब्द एक खास मानसिकता को दर्शाने के लिए व्यक्त किए गए हैं, जहाँ मानव जीवन का मूल्य स्वार्थ पूर्ति के लिए नष्ट करने के सिवा अधिक नहीं है। मास्टर जी उर्फ गंगाड़ी उर्फ उत्तरकाशी के उर्वी दत्त, उनियाल वंश के आधुनिक आदमी, यानी मास्टर जी यानी दिल्ली के कॉलेज में एक लेक्चरर एक सूत्रधार हैं जो इस कथा के प्रस्तुतकर्ता हैं और कथा कानपुर, दिल्ली के अनेक हिस्सों में घूमती हुई फिर पहाड़ से शुरू होकर पहाड़ पर ही खत्म होती है।

मानुषखोर बताए जाने वाले मुखिया जी कभी तो नरभक्षी की तरह दिखाई देते हैं, कभी वह जनसेवक और कभी भविष्यवक्ता तो कभी अपने समाज के बेहतरी के लिए चिंतित और दौड़ भाग करते समाजसेवी। उपन्यास में ऐसे हिस्से भी आए हैं जहाँ पर स्वयं मुखिया जी किसी मंत्री या सांसद और उनके साथ रहने वालों को भी मानुषखोर, स्वांगी कहते हैं और मानुषखोरों की उस जमात के बीच भी जाकर अपने क्षेत्र के बेहतरी के लिए सहयोग माँगते दिखाई देते हैं । मुखिया जी कहीं आध्यात्मिक अवतारी पुरुष जैसा व्यवहार कर रहे हैं तो कहीं वह आम आदमी की तरह वह सब कमियों से ग्रस्त दिखाई देते हैं और शराब पीकर बेहोशी में बड़बड़ाते हुए भी वे कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जिसको लेकर उस क्षेत्र के इतिहास भूगोल पर प्रभाव पड़ रहा है। यहाँ तक कि अमेरिकी नागरिक अनट बी.जी.लुहान अमेरिकी समूहके साथ आकर वहाँ पर शोध कार्य करते हैं और फिर से मुखिया को उसके इलाके के लोगों के लिए परिचित कराते हैं।

मुखिया की कहानी यहाँ मुख्य कहानी है जो एक रहस्यमय वातावरण से शुरू होती है और उसके समापन तक यह रहस्य गाहे-बगाहे हमारे सामने नजर आता है कि मुखिया पहले से ज्यादा ताकतवर खतरनाक दिखाई देता है। उसके अंत तक भी यह नहीं पता चलता कि अब लोग मुखिया से क्यों भयग्रस्त हैं जबकि वह जीवित ही नहीं है, निर्जीव मुखिया भी उतना ही

डरावना है जितना सजीव। उसके आसपास रहने वाले उससे डरते हैं और मुखिया के आसपास का वातावरण हमेशा एक अजीबो गरीब रहस्य से घिरा हुआ है।

इस उपन्यास में गढ़वाल क्षेत्र की आखिरी आर्चरी नेपाल के राजा से गढ़वाल का संघर्ष भी बीच-बीच में दिखाई-सुनाई देता है और उपन्यास को रोचक बनाने तथा अवांतर प्रसंगों से जोड़ने में यह कथा बार-बार आती है। एक ओर मुखिया भविष्यवक्ता है तो वह अनेक लोगों के लिए श्रद्धा और जिज्ञासा के विषय भी तो दूसरी ओर मुखिया डर, अपवाद और विवाद के विषय भी।ऊर्वी दत्त उनियाल उर्फ गंगाड़ी स्वयं उनके व्यक्तित्व से आकर्षण-विकर्षण के बीच संघर्षरत दिखाई देता है। कई बार ऐसा भी प्रतीत होता है कि मुखिया वास्तव में एक ऐसा संदिग्ध हमलावर है जो अवसर की तलाश में है और जहाँ वह होता है वहाँ दुर्घटना आसपास दिखती है। खासतौर से गजा और उसके आसपास के इलाके में यह उपन्यास बार-बार अतीत और वर्तमान के झोंके लेता है। और लेखक के जीवन काल में घटित भारत की अन्य अनेक घटनाओं को भी याद कराता है। प्रकारांतर से वह स्वतंत्रता के बाद के भारत के संबंध में और राजनीति में आ रही दशा-दिशा पर भी बातचीत करता है तो प्राकृतिक आपदाओं से नष्ट होते भूवैज्ञानिक, भौगोलिक हालातों पर भी।

ऋषिकेश और पहाड़ में विशिष्ट वर्ग द्वारा जमीन हथियाने और दोहन के साथ-साथ आई बाढ़ के द्वारा बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की भी कथा उपन्यास में आती है। इस उपन्यास की खास विशेषता यह है कि यह यहाँ सूत्रधार अनुपस्थित है लेकिन एक सजग उपन्यासकार के तौर पर कथा वितान को बुनने वाला सजग रचनाकार हर समय दिखाई देता है। मास्टर जी, हेड मास्टर जी और दिल्ली के कॉलेज के लेक्चरर के संदर्भ में जहाँ पर भी बातें आई हैं वहाँ पर एक पारिवारिक बातचीत भी जारी रहती है। कभी घर-परिवार के लोगों द्वारा कभी मुखिया की संदर्भ से कभी मुखिया की भविष्यवाणियों के द्वारा घोषित। सबसे विशेष चर्चा उपन्यास में यह है कि मुखिया की चर्चा करना उपन्यास का उद्देश्य है लेकिन बार-बार यह भी लेखक दोहराता है कि जो मुखिया की चर्चा कर रहा है, वह संकट में है। मुखिया की खोज, मुखिया के बारे में जानना और मुखिया को ढूँढना स्वयं में संकट मोल ले लेना है पर जब अमेरिकी दल आकर मुखिया की खोजबीन करता है और उसके बाद इलाके के लोगों को मुखिया द्वारा की जा रही भविष्यवाणियों से अवगत कराता है, तो वहीं पूरा गजा क्षेत्र चमत्कृत होकर मुखिया की बातें सुनता है।

मुखिया शराब पीते हुए नाराज होकर शराब छोड़ने की घोषणा करता है। मुखिया क्षेत्र में जनकल्याणकारी अस्पताल, स्कूल, सड़क लाने वाला नेतृत्व कर्ता दिखाई देता है। निश्चित रूप में उपन्यास कई तरह की घटनाओं का चरित्रों का स्थानों का विवरणात्मक सूचना सूचनाएँ भी प्रस्तुत करता है। पहाड़ी समाज और भारतीय समाज में होने वाली घटनाओं के बारे में भी

उपन्यास में अनेकानेक विवरण उपलब्ध हैं। लेखक अपने गजा क्षेत्र के आसपास के भौगोलिक ज्ञान, सांस्कृतिक-धार्मिक स्थलों का परिचय, वहाँ होने वाली दैनंदिन घटनाओं, वार्ताओं का उल्लेख करना नहीं भूलता इस रूप में गजा के साथ-साथ नरेंद्रनगर, चंबा, देहरादून, ऋषिकेश, हिंडोला खाल, चंद्रबदनी, रानीचौरी, तपोवन, आगराखाल, बादशाहीथौल, धारमंडल, चौबटा बडियारगाँव, भगवंतपुर, नागणी,खाड़ी, हरिद्वार, टिहरी, सकलाना चमुआखाल, मुनी की रेती जैसे कई स्थानों की यात्रा करता है। इस उपन्यास में कई गढ़वाली शब्दों को प्रयुक्त किया गया है जिनसे भाषा की स्थानीय अभिव्यक्ति के मुहावरे खुलते हैं। मुखिया एक व्यक्ति है जिसे प्रारंभ से ही खराब आदमी,मानुषखोर, अपशकुनीजैसी शब्दावली से पुकारा गया, स्वयं मुखिया स्वीकार करता है कि जहाँ वह पहुँचता है पता नहीं वारदात उसके पीछे-पीछे कैसे पहुँच जाती है।

उपन्यास में अनेक पात्र हैं जिनमें प्रारंभिक पात्रों में देवव्रत, ज्ञान सिंह, फलदार सिंह, इंद्र सिंह, हेड मास्टर, रमेश जैसे पात्र हैं तो उपन्यास के अंत में विदेशी पात्रों के भी कई नाम दिखाई देते हैं जो गजा क्षेत्र पर शोध कर रहे हैं। सकलानी एक ऐसा पात्र है जो पहाड़ से उतरकर कानपुर पहुँचता है उसका विवाह भी यहाँ होता है और कालक्रम में वह एक वकील की योजना का शिकार हो जाता है और उसकी मृत्यु अंत में मुनि की रेती में होती है। यह अंतरराष्ट्रीय हड्डीचूरक जैसे शब्द लेखक ने नेताओं या मंत्री सांसदों के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया है। लेखक बीच-बीच में ऐसी शब्दावली और वाक्य प्रयोग करते हैं जिससे लगता है कि मुखिया जरूर कुछ रहस्यमय व्यक्तित्व है।

इस उपन्यास में कुछ हिंदी कविताओं और गढ़वाली गीतों को भी पिरोया गया है और कई सूक्ति जैसे वाक्य भी दिखाई देते हैं। जैसे 'पूजा तो हमेशा सफलता के बाद की कृतज्ञता है ना' और 'पहाड़ी लोगों की गप्पें मारने और अड्डे बाजी का शौक का भान मुझे था।' पूरे उपन्यास में गढ़वाल और नेपाल के बीच चलने वाले युद्ध वातावरण का भी बार-बार जिक्र आता है और इसमें नेपालियों द्वारा गढ़वाल में की जा रही हत्याओं और उसके बाद नेपालियों के तंत्र को नष्ट करने के लिए की गई तमाम कवायद में भी बार-बार दिखाई देती हैं।

समकालीन राजनीति में पंचायत चुनाव तक में धनबल और मनोरंजन सहित तमाम तरह के हथकंडे को अपनाने का प्रभाव पहाड़ तक पहुँच जाने का भी जिक्र मिलता है। राजनीति में महिलाओं के उपयोग की बात भी दिखाई देती है। मंदिर में बैठने वाले वाकी (वाक सिद्ध) जैसे लोग और आम समाज में फिर रहे बदनाम लेकिन वाक सिद्ध मुखिया दोनों के अपने-अपने भक्त हैं । इसी बीच में उन्हें यह भी पता चलता है कि मुखिया बाहरी व्यक्ति है और उसके कानपुर में हुई मोतीराम की राजनीतिक हत्या की बात हो अथवा चुनाव में आज के समाज की तमाम

हलचलें उपन्यास में दिखाई देती हैं। दिल्ली के कई स्थानों का चित्रण और राजनीतिक कार्यालय भाषा और सरकारी कार्यालयों के बारे में भी उपन्यास में बार- बार अलग-अलग संकेत मिलते हैं। मानव चोरों की टोली और हत्यारों का नेता बताते हुए राजनीतिक समूह पर जो टिप्पणी है वह निश्चित तौर पर एक खास संकेत करती है। एक बात बार-बार इसमें आती है डर मूल प्रवृत्ति होने के कारण मानसिक व्याधि भी है। लोग जहाँ मुखिया जी को नरभक्षी अमानुष खोल कहते हैं, वहीं बाद में 90 वर्ष से अधिक की उम्र पर स्वयं को पर भक्ति बूढ़ा स्वीकार करते हैं। मुखिया सेना द्वारा सिपाहियों द्वारा सैनिकों द्वारा बदायूँ संपर्क बनाने के का जिक्र भी इस उपन्यास में आया है। गरीब मजदूर उपन्यास में कई गढ़वाली गोत्रों जैसे बहुगुणा, सकलानी, उनियाल आदि अनेक का जिक्र है। उपन्यास का अंतिम खंड विलोप है और प्रारंभिक खंड का नाम है मुठभेड़। लेखक ने इस उपन्यास को 'दिव्यता को जिससे सब कुछ लिया जिसे कुछ भी न दे पाया' को अर्पित किया है। 2013 में प्रकाशित यह उपन्यास विमल जी के रचना बिंदु, रचना कर्म का श्रेष्ठ प्रतीक है, जिसमें भाव, भाषा, अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना सब कुछ उच्चतर स्तर पर है। हाँ यह अवश्य है कि अनेक चरित्रों, घटनाओं, सूचनाओं का लोग स्मरण न कर पाने के कारण कहीं बहुत अधिक भीड़-भाड़ दिखाई देती है उससे उपन्यास में कहीं-कहीं ठहराव प्रतीत होता है। बीच-बीच में आने वाली अंर्तकथाओं से उपन्यास में विविधता तो है पर वह विविधता कई बार मूल कथा को मददगार नहीं दिखती।

यह उपन्यास प्रोफेसर गंगा प्रसाद विमल का श्रेष्ठ उपन्यास है और एक पाठक के रूप में मैं अनुभव करता हूँ कि अपने जन्म स्थान और अपने पूर्वजों के प्रति उनके मन में जो आकर्षण प्रेम है यह उसका प्रतीक भी है। बहुत सारी गतिविधियों में निजी जीवन और बातचीत में वे पहाड़ की बेहतरी की चर्चा करते मिलते थे और अनेक निजी बातचीत और यात्राओं में उन्होंने मुझे भी इसके लिए बार-बार प्रेरित किया मुझे गंगा प्रसाद विमल जी के साथ ऋषिकेश से दिल्ली आने की यात्रा भी याद है, जिसमें हरिद्वार के आश्रम में जब वह एक गुरु जी से मिलते हैं और उनसे वार्ता करते हैं तो मुझे वह प्रसंग इस उपन्यास को पढ़ते हुए बार-बार स्मरण हो आया। प्रोफेसर विमल का यह उपन्यास नए संदर्भों में भारत के क्षेत्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष को समझने के लिए उपयोगी तो है ही।

यह उपन्यास राष्ट्रीय राजनीति और राष्ट्रीय विकास नीति पर भी टिप्पणी करता है आज भी भारत में छोटे-छोटे कार्यो के लिए कितना अधिक श्रम करना पड़ता है उसकी बानगी भी इस उपन्यास में दिखाई देती है। भारत की चुनाव परंपरा से लेकर भारत के सरकारी कार्यालयों के कामकाज पर भी इसमें पर्याप्त टिप्पणियां हैं। भारत के ग्रामीण जीवन और उस को प्रभावित करने वाले अंधविश्वास तथा भय और उसको नियंत्रित करने वाले नेतृत्व अथवा गुंडे अथवा

सामाजिक कार्यकर्ता की छवि रखने वाले मुखिया जी एक अजीबोगरीब घटना के बाद गायब हो जाते हैं और यह नहीं पता चलता कि अंततः वे स्वयं कहाँ विलुप्त हो गए। इसी के साथ उपन्यास समाप्त होता है।

उपन्यास के समापन के साथ ही मानुषखोर परंपरा की राजनीति की चर्चा और तीव्र हो गई है। मैं इस उपन्यास को भारतीय राजनीति में भी एक सशक्त हस्तक्षेप के रूप में देखता हूँ। जहाँ लेखक राजनीति में आई विद्रूपताओं को एक के बाद एक बेनकाब करता जाता है और राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रति समाज में आ रहे व्यवहार को भी इंगित करता है। जहाँ भय के कारण प्रेम अथवा दिखावे के कारण की जा रही मजबूरी की इज्जत प्रकट होती है। भारत की राजनीति, समाज, लोक संस्कृति, विकास, पर्यावरण, परंपराओं तथा लोक विश्वासों और अंधविश्वासों पर एक साथ बातचीत करने वाला यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण रचना है। भविष्य में विमल की अन्य रचनाओं के साथ इस उपन्यास पर और अधिक प्रासंगिक चर्चाओं की जरूरत है। मैं समझता हूँ कि इस उपन्यास में लेखक ने जिस तरह एक पूरे वातावरण को निरूपित किया है वह आज के जीवन के साथ-साथ परंपरागत भारतीय जीवन पर भी सटीक टिप्पणी करता है।

इस उपन्यास के पात्रों चरित्रों घटनाओं के माध्यम से हम गढ़वाल तथा दिल्ली के अंतर को भी समझ सकते हैं अतीत और वर्तमान के अंतर को भी समझ सकते हैं। जनता प्रजा और राजा के अंतर को भी समझ सकते हैं और भारत की भविष्य की दशा-दिशा भी । वास्तव में फिर से पीछे मुड़ कर देख रहे भारतीय समाज के लिए भी यह रचना आज के भारतीय जीवन पर एक सटीक टिप्पणी है।

- अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय,
मेरठ

वही का वही मानुषखोर...!!

- डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी

गंगाप्रसाद विमल के नवीनतम उपन्यास का नाम 'मानुषखोर', देखते ही उत्सुकता जगाता है कि कौन होगा मानुषखोर। फिर पढ़ते हुए वह बढ़ती ही जाती है - उत्सुकता से आकुलता बनती जाती है। और यह कार्य लेखक इरादतन करता है - एकाधिक मानुषखोर खड़े करके। जब पहले ही अध्याय में सरकटी लाशें आती हैं, तो उसकी सारी स्थितियों और उससे बनते कयासों के सिवा सीधे कथनों में भी गजा (गाँव या इलाका) के मुखियाजी मानुषखोर के रूप में प्रतिष्ठित-से हो जाते हैं। अब रह जाता है देखना कि वे कैसे रँगे हाथों पकडाते हैं, उनका मुखौटा कब और कैसे हटता है। लेकिन इसके बाद लगभग 150 पृष्ठों तक मुखियाजी गायब हो जाते हैं। इस बीच शक की सुई उनियाल जैसे कुछ औरों की तरफ भी जाती है, जो उसके बाद लगभग सिरे से ही गायब हो जाता है। और जब बहुत आगे जाकर मुखियाजी फिर प्रकट होते हैं, तो थोड़ी ही देर में वे मानुषखोर से एक समाज सुधारक बन जाते हैं - खलनायक से नायकत्त्व धर लेते हैं। इसके बाद सचमुच का नरभक्षी (बाघ) भी पृष्ठों पर मानुषखोर के रूप में नुमायां होता है, जो प्रतीक व व्यंजनादि की साहित्यिकता से रहित होकर वाच्यार्थ की अवरता पर उतर आता है। राजनीतिक हत्याओं का एक अध्याय ही है। इतने सारे पहलुओं और पहरुओं से घूमते हुए अन्त में मानुषखोर वही के वही सिद्ध होते हैं - 'एक तरफ मानुषखोरों की कतार थी और दूसरी तरफ थे निरीह लोग', जिसकी बावत चिंता भी है कि 'धर्म ने कोशिश की, मूल्यों-आदर्शों ने की, पर मनुष्य जैसा का जैसा है' - मानुषखोर!

इन सनातन मानुषखोरों को भिन्न-भिन्न समयों व में भिन्न-भिन्न लोगों के रूप में नियोजित करने की मंशा भी जहिराती है, पर न ठीक से रूपायित होती, न सम्प्रेषित। माना कि ये भिन्न-भिन्न सोपान वैविध्य व पाठकीय कुतूहल जगाने की औपन्यासिकता के मानक हैं, पर मानुषखोरों को उजागर करने के ये विधान अपनी प्रस्तुति में इस कथा-कला से कुछ अतिरिक्त व इतर होकर पाठक के सिवा कृति के लिए भी मुफीद सिद्ध नहीं होते। यदि अंतिम निष्कर्ष के अनुसार मानुषखोरों का एक वर्ग है, तो इतनी सारी सरकटी लाशें क्या हैं? वे न किसी व्यक्ति व वृत्ति की प्रतीक-संकेत बन पातीं, न फैंटेसी। फलतः पाठक के लिए भी भरमाने या किंचित भटकाने का सबब बनती हैं। और वस्तु व विधान के कमोबेश हर आयाम की बावत 'मानुषखोर' की रचनात्मकता का अहवाल यही है, जिसमें सरलता के आगोश में जटिलता, कथा-बहुलता में कथाहीनता, पूरकता में आधा-अधूरापन, स्थानीय-बहुल विविधता में

एकरूपता जैसी ढेरों अंतर्विरोधी वृत्तियाँ समाहित हैं। इसी का नतीजा है कि ढेरों कथाएँ, जिन सबमें एक-एक औसत उपन्यास की सम्भावनाएँ मौजूद हैं, उल्लेख की तरह आती हैं। उनसे न कोई निश्चित कथा बनती, न उनमें अपेक्षित कथापन आता। ढेरों कथाएँ हैं, जिनके यदि 'ओर' मिलते हैं, तो 'छोर' के पते नहीं लगते। जिनके ले-देकर ओर-छोर दोनों मिलते हैं, तो पूरा मध्य गायब रहता है। मुखिया व उनके साथ दोनो प्रवेशों में सूत्रधार व द्रष्टा बने हेडमास्टर की युति व दूसरे स्थान पर परिगणित हो जाने योग्य सकलानी-कथा का भी यही हाल है। और ये ही इस कथासंकुल के प्रमुख हिस्से हैं। फिर इनके अंत आकस्मिकता से इस कदर आक्रांत हैं, कि आज के तर्क-युग के लिए फिट बैठने का सवाल खड़ा हो जाता है। दूसरे प्रवेश में अनायास भविष्य-कथन वाला मुखिया का रूप भी ऐसा ही है, जिसे मनोविज्ञान से कुछ साधने की नाकाम-सी हस्बमामूल कोशिश भी हुई है। आकस्मिक रूप से सकलानी की संतानों का मरना तो फिर भी बीमारी के प्रकोप से सधता है, जो कृति में ग्रहीत पहाड़ी क्षेत्र की एक विकट समस्या का साधक भी बनता है। इसी के लिए एक स्वास्थ्य-केन्द्र खोलने में ही तो मुखिया का परवर्ती व्यक्तित्त्व भी निखरता है। पर उसके उद्घाटन के ऐन वक़्त पर ऐसे जीवट वाले पात्र का 'विलुप्त' हो जाना सिर्फ पाठक को झटका व कथा को धोखा देने के अलावा क्या (कहता) है? जिस बहुविवाह की रीति में सुमित्रा को सकलानी की दूसरी बीवी के रूप में बड़ी तरद्दुत और काफी तामझाम के साथ स्थापित किया गया, उसका नियति के खेल के चलते यूँ अमान्य हो जाना वजह नहीं, बहाना सिद्ध होता है। फिर भी सुमित्रा का सारी सम्पत्ति उसी की संतान को दे जाना... आदि सब गले इसीलिए नहीं उतरते कि फटाफट शैली में 'भीतर हाथ सहारि दै' की लेखकीयता से साधे नहीं जाते।

उपन्यास से गुजरते हुए पक्के तौर पर समझ में आ जाता है कि यह किसी व्यक्ति या समय की नहीं, पहाडी अंचल की कथा है। इसी से कयास लगता है कि उक्त सारे स्खलन उसी को साधने में हुए हैं। यदि वह सध जाता, तो भी बात बन जाती। किंतु उपन्यास बनता है कथा से - वह चाहे जिसकी हो - चरित्र, समय या फिर अंचल की। इसी से कहा गया कि 'लुत्फ है लफ़्ज-ए-कहानी में ; शख़्स की हो, शख़्सियत की हो...'। अंचल के नायकत्व की कृतियों में भी कथा होती है - कई कथाएँ अपने स्वतंत्र अस्तित्त्व के साथ उस भूभाग की एक मुख्य कथा भी बनाती हैं। तभी सब कुछ सधता है। आजादी मिलने के बाद के दो दशकों के बहुतेरे उपन्यास इसके सिद्ध प्रमाण हैं।

इस कला व कसौटी से रहित 'मानुषखोर' में जैसा उभरा है पहाड़ी अंचल, उसमें उसकी सरनामी व अकूत सौन्दर्य की प्रतिमान पर्वत शृंखलाओं से बनी स्थितियाँ ही वहाँ के जनजीवन की त्रासदियों की कारण हैं। यही इस कृति का उल्लेख्य प्रदेय है कि सारी दुनिया में सरनाम व

आहत पर्वत-प्रदेश से अलग उसकी अन्दरूनी कहानी कहती है - जन-जीवन की गाथा। और शायद इसीलिए कहीं उस प्राकृतिक सौन्दर्य की झलक भी नहीं देता लेखक, बल्कि पहाड़ के कारण बाढ़ व खेत धसकने जैसी प्राकृतिक आपदाओं को रेखांकित करता है। याने आमजीवन से पूर्णतः प्रतिबद्ध है 'मानुषखोर'।

पर वे समस्यायें भी अनाम नहीं हैं। दुर्गम पहाडियों में रास्तों के अभाव से बनी दूरियाँ व आवागमन के साधनों की कमी ही सारी समस्याओं की जड़ है, जिससे शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी प्राथमिक जरूरतों से वंचित हैं लोग। पिछड़ा है जीवन व उसमें नितांत कमी है निश्चित रोजगारों की। इन सबके बीच यद्यपि कहा न गया, पर इस भूभाग में वही हाथ आता है, जो 'मैला आँचल' में शोध के निष्कर्ष रूप में प्रशांत को मिला था - जहालत और गरीबी, जिसे बनाने-बढ़ाने व भुनाने में राजनीति, राजवंश, गढवाल-नेपाल संघर्ष...आदि तो हैं ही, अंतिम अध्याय के उत्तर भाग में अनट बी.जी. लुहान के जरिए भूमंडलीकरण के अमरीकी दखल को भी ला दिया गया है। सपने के नाम पर आज के मीडिया-उछाल पर ताना कसा गया है। लेकिन ये सब संस्पर्श जितने ही आते हैं, तो उतने ही भर पहुँचते भी हैं। लेकिन यह भान करा देते हैं कि यही सब मिलकर उस इलाके के जीवन को और त्रासद बनाते रहे हैं और बनाते जा भी रहे हैं। क्या ये सब भी मानुषखोर हैं? क्या ये सब मानुषखोर नहीं हैं?

लेकिन खास यह है कि इनसे 'मानुषखोर' का आम आदमी टूटता नहीं, हारता नहीं। हालांकि उस तरह लड़ता भी नहीं, पर जीता है। सरवाइव करता है - चाहे आदतन चाहे इरादतन... और यही विमलजी के निर्मल मन व चेतना का योगदान है उस भूभाग को और उपन्यास को भी। उस भूभाग में ढेरों स्थल हैं। गाँव हों या इलाके, पर हैं - गजा, चमुआखाल, पडियार, ग़हंटियाल, कुशी, पालमखेत, कोटेश्वर ऋषिकेश मुनि की रेती और भूम्याल (जहाँ हड्डियां मिलती हैं)... आदि। इन सबमें एकरूपता है। किसी की अपनी पहचान नहीं बनती। मेरा कयास है कि पहचान होगी जरूर, पर लेखक ने या तो उसे पहचाना नहीं या उसे उरेह न सका। जिस संस्कृति को उकेरने से ऐसी सम्भावना बनती, वह तो प्रायः नदारत है। अतः ये सारे गाँव व क्षेत्र तो बनते हैं, उनसे कोई लोक नहीं बनता। लोक का कुछ सहज-खाँटी रूप में आता ही नहीं। बतौर उदाहरण लोकगीत होते हैं, जो हर अंचल को बखूबी साकार करते हैं, लेकिन ढेरों अवसरों व उल्लेखों के बावजूद कहीं मूल लोकगीत का टुकडा भी नहीं आता। कुछ अनुवाद आये हैं - न जाने क्यों, जो गद्य से भी फ्लैट होकर अपठनीय हो गये हैं। इसी तरह सांस्कृतिक उपक्रमों से भी बचा गया हैं। खान-पान-पहनावे या रहन-सहन भी खास तौर पर चित्रण के अंग बनते नहीं पाये जाते। 'राज राजेश्वरी दैणी (दाहिने) हो गयी' जैसे एकाध के अलावा मुहावरे भी नहीं मिलते। नरसिंग को सिद्ध कर लेने वाली स्त्री भले-चंगे जवान को पल भर में बूढ़ा कर

सकती है, जैसी मान्यताओं से प्रयुक्त वाक्यांश 'नरसिंग लगा दिया है' भी क्वचित मिल जाते हैं। ऐसे सब कुछ खुलकर बहुतायत में क्यों नहीं आते? क्या लेखक 'आंचलिक' होने से बचना चाहता है? शायद इस बचाववाद या बनाववाद के चलते ही उक्त स्थलों का प्रायः कोई व्यक्तित्त्व नहीं बनता, तो उन्हीं पर आधारित कथा व कृति का भी कैसे बनता, जिसमें कोई प्रस्तुति-विधान भी सिद्ध नहीं?

हाँ, शब्द अवश्य आये हैं, जिनमें गोठ्यार (आँगन), औंसो (मीठे पकौडे) जैसे स्थानीय शब्द तो हैं ही, तमाम ऐसे भी हैं, जो अन्य भाषाओं से मेल खाते हैं। जिन्हें समझना बडा रोचक लगा। भाईजी के लिए 'भैजी', जिसमें भाईजी की पत्नी के लिए अपना 'भौजी' भी दिखता है। दीदी के वजन पर बड़े भाई के लिए 'दिदा' भी है। अप्सरा के लिए 'अछरी' लुभा जाता है। ग्रीष्म कुटीर के लिए प्रयुक्त 'छान' तो हम भोजपुरी में भी खूब उठाते हैं - छाया के लिए छाये जाने वाले विविध रूपों में चलाते हैं। ऐसे शब्द काफी हैं और भारतीय एकात्मकता को साबित करने वाली लोक-शब्दों की यह ऐसी विशेषता है, जो मराठी-गुजराती-कोंकणी आदि शब्दों में तो पायी ही जाती है, यदि व्युत्पत्ति करके समझा जाये, तो दक्षिण भारत की भाषाओं के शब्दों में भी अप्राप्य नहीं।

फिर भी यही कहना होगा कि अपेक्षाकृत इस वृहदाकार कृति में न ही यह कि उत्तरों में प्रश्न खड़े हो जाते हैं और प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं, बल्कि ग्रहीत क्षेत्र व विधा की ढेरों सम्भावनाओं को कुन्द करते हुए ऐसी रचना तैयार हुई है, जिसमें रोचकता तो क्या, अपेक्षित पठनीयता भी नहीं आ पाती।

संपर्क : नीलकण्ठ, तल मंजिल,
एन. एस.रोड नं.-5,
विलेपार्ले-पश्चिम,
मुंबई-400056
मो.- 09819722077

उजाले के सच से सचेत करता उपन्यास : मरीचिका

श्यामसुंदर पाण्डेय

यह अंधेरा ही है अंधेरा / जिसे हम समझते हैं आलोक /
यह सब कुछ दिखा सकता है पर / नहीं दिखा सकता हमें अंधेरे का सच
(गंगा प्रसाद विमल)

पिछले लगभग पचास वर्षों में हिन्दी साहित्य के जिन साहित्यकारों नें इस भ्रमित कर देने वाले आलोक के यथार्थ को समझने का प्रयास किया, जिन्होंने इस मिथ्या उजाले के सच को टटोल कर उसे सामान्य जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की हिम्मत दिखाई उन्हीं में से एक प्रमुख नाम गंगा प्रसाद विमल जी का भी है। विमल जी का साहित्य सामान्य जनता की आँखों पर बँधी पट्टी को बार- बार हटा कर यह अहसास दिलाता है कि सच्चाई को सच्चाई की नजर से देखो, चारों तरफ आँखों को चौंधिया देने वाले जो तारे प्रकाशित हो रहे हैं, उनके प्रकाश के स्रोत तक जाने का प्रयास करो, अपने अधिकारों के लिए अपनी आवाज ऊँची उठाओ, अपने श्रम के सम्मान की माँग करो हमारे समाज में लम्बे समय से एक गहन अन्धकार चारो तरफ फैल रहा है, जिसे सत्ता के पहरुओं द्वारा प्रकाश की संज्ञा दी जा रही है। अन्धकार को ही प्रकाश घोषित करते हुए यदि इस नकली प्रकाश के जोरदार प्रचार का यह सिलसिला नहीं रुका तो एक दिन ऐसा आयेगा जब हम कहीं अँधेरे के बियाबान में खोकर अपने ही हाथों को नहीं पहचान पायेंगे। यदि इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठी, यदि इस चमक के यथार्थ को नहीं पहचाना गया तो बहुत जल्दी ही अन्धकार को प्रकाश कह कर बेचने वालों का साम्राज्य फैलेगा और सब कुछ अन्धकार में डूब जाएगा। इससे तो अच्छा है 'अगर कुछ नहीं सोच सकते तो जाओ माओ के झंडे के नीचे लाल सलाम कह दो'।

यह कहना कठिन है कि माओ के लाल झंडाधारी आज सामान्य जनता के हक के लिए कितना लड़ रहे हैं, उस झंडे की छाँव में छिपी सामान्य जनता कितनी सुखी हुई, कितनी सुखी आज है और आने वाले दिनों में कितनी सुखी होगी लेकिन इतना तो सर्व विदित है कि जिन लोगों ने उस लाल झंडे को लेकर चलने का दंभ भरा था, वे ही इस नई सदी में हाँफ रहे हैं और अपने सूखते गलों को सींचने के लिए अब उन्हीं का सहारा ले रहे हैं, जिनके विरोध में यह झंडा खड़ा हुआ था। खतरे हर तरफ हैं। कहने के लिए तो सभी मानव कल्याण के लिए ही संघर्षरत हैं लेकिन

नीयत में खोट कुछ-कुछ सब जगह है। सभी अपने-अपने दामन को साफ-पाक होने का झूठा भ्रम फैलाए जा रहे हैं और इसी भ्रम की मरीचिका में हम व्याकुल हुए जा रहे हैं। वैसे तो, प्रधान है पूँजी की भूख ही सब जगह और उसी पूँजी की भूख ने भ्रम का एक ऐसा साम्राज्य रच दिया है, जहाँ श्रम के बल पर पेट भरने की आशा रखने वालों की तड़प चारों तरफ गूँज रही है। डर इस बात का है कि यही भ्रम अब हमारी व्यवस्था का अंग बनता जा रहा है। विमल जी का 'मरीचिका' उपन्यास इसी व्यवस्था के विरुद्ध तीव्र आक्रोश की एक परिणति है, जहाँ लेखक स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि 'यह तंत्र बदल देना चाहिए जो भूख और गरीबी को बनाये रखने का एक षड्यंत्र करता है।' विमल जी के जीवन के अंतिम वर्ष, सन 2019 में प्रकाशित इस उपन्यास में लेखक मुख्य पात्र के रूप में स्वयं उपस्थित है। सत्रह वर्ष के बाद वह अपने शहर के बदलावों की जाँच-पड़ताल करने जाता है लेकिन इतने दिनों में शहर तो प्रथम द्रष्टया कुछ नहीं बदला है - 'शहर का स्टेशन, स्टेशन पर खड़े इंतजार करते लोग, टैक्सी और तांगें वालों की कतारें, आवाजें - सब वैसे की वैसी थीं, जिन्हें मैं सालों पहले छोड़ आया था।'

हाँ, जो बदलाव हुए हैं उनमे शहरों में खाली पड़ी जगहों पर गगनचुम्बी इमारतों का खड़ी हो जाना, गाड़ियों की भीड़, पुराने पेड़ों का कट जाना, अपनी कुरूपताओं को मेकप के माध्यम से छिपाने का प्रयास करते लोग, लोगों के मन में बैठा एक अदृश्य डर और इस प्रकार के बदलावों के अतिरिक्त एक सबसे बड़ा बदलाव जिसे देखकर लेखक दंग है- मात्र आशीर्वाद के बल पर असंभव को संभव बना देने वाले चमत्कारी बाबाओं, संतों का प्रचार और छोटे - बड़े सब के बीच उनका बढ़ता प्रभाव। ऐसे चमत्कारी ढोंगियों की सामर्थ्य पर अब आटा चक्की चलाने वाले व्यक्ति को भी अटूट विश्वास हो चुका है - 'यह सारा तो संत जी का ही प्रभाव है, भाई! जो संत जी महाराज न होते तो हम तो कभी के मर गए होते। बस भाई, संत जी ने दोनों हाथ खोल के दिया है तो हमने भी लुटा दिया हैं। यद्यपि कि लेखक की दृष्टि में आँखों पर चश्मा और चेहरे पर झुर्रियों के अतिरिक्त उसके जीवन स्तर में कोई बदलाव नहीं आया है फिर भी संत के प्रति श्रद्धा भाव में वह डूबा हुआ है। श्रद्धा का यही भाव उन लोगों में भी बैठा है, जिन्होंने उस संत को कभी अपनी आँखों से देखा नहीं इस प्रकार के संत आज एक ऐसी अदृश्य सत्ता बन चुके हैं, जिनकी मर्जी से समाज का हर अच्छा काम हो सकता है।

यह सर्व विदित है कि धर्म के नाम पर अंधविश्वासों का बोल-बाला हमारे समाज में कुछ पहले से भी रहा है विशेष कर आजादी के प्रारंभ में शिक्षित वर्ग यह कहता रहा कि अंधविश्वास अशिक्षा की दुष्परिणति है। सभी लोगों के शिक्षित हो जाने पर ये अंधविश्वास अपने आप समाज से समाप्त हो जायेंगे लेकिन, लोगों का यह अंदाजा गलत निकला। आज यह भले ही नहीं कहा जा सकता कि आजाद भारत ने शत-प्रतिशत शिक्षा के अपने उद्देश्य को छू लिया है फिर भी, यह

तो मानना ही पड़ेगा कि शिक्षा के क्षेत्र में कुछ प्रगति अवश्य हुई ही है और वह प्रगति इतनी हो चुकी है कि शिक्षा अंधविश्वासों को कितना मिटा पायेगी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। हमारे देश में जिन शहरों और जिन क्षेत्रों को लगभग पूर्णतः शिक्षित हो जाने की श्रेणी में रखा जाने लगा है, वहाँ भी अंधविश्वासों में रत्ती भर की कमी नहीं दिखाई देती बल्कि उच्च शिक्षितों को भी अंधविश्वासों के कीचड़ में आकंठ डूबे देखा जा सकता है। अमीर-गरीब सब का सबकुछ किसी संत, पीर, अघोरी इस प्रकार के किसी बाबा के आशीर्वाद से चल रहा है। लेखक ने इस उपन्यास में ऐसे ही आशीर्वादियों और उनके अंधभक्तों की बखिया उधेड़ने का सफल प्रयास किया है।

उपन्यास का प्रारंभ सार्त्र की प्रसिद्ध उक्ति 'बैड फेथ इज नाट कम फ्रॉम आउट साइड टू ह्यूमन रियलिटी' से होता है। यहाँ लेखक को समाज में सब कुछ एक जैसा ही दिखाई देता है। कहीं कोई अंतर नहीं और यह समानता इस कदर बढ़ गई है कि यदि गली के मुहाने पर रखी लकड़ी की एक छोटी सी दूकान हटा दी जाती है तो उसे अपनी गली पहचानना मुश्किल हो जाता है। लेखक का यह सीधा संकेत हमारे बदलते समाज और हमारी राजनीतिक व्यवस्थाओं पर है, जहाँ सच्चाई को पहचानना कठिन होता जा रहा है। कहने के लिए हर पक्ष सामान्य लोगों के लिए गरीब जनता के लिए ही कार्य कर रहा है लेकिन सच्चाई तो यह है कि जिसका सभी विरोध कर रहे हैं, वही फल-फूल रहा है। हमारे राजनीतिक दलों की स्थिति तो यहाँ तक पहुँच गई है कि सत्ता में रहते हुए एक दल जिस बात का समर्थन करता है और दूसरा विरोध करता है, सत्ता परिवर्तन के बाद वही समर्थक दल विरोधी बन जाता है और विरोधी दल उसके समर्थन में अपनी एड़ी-चोटी का जोर लगाने लगता है, जब कि बात वहीं रहती है। समाज की किसी घटना -दुर्घटना पर जाति, धर्म और वर्ग आदि को केंद्र में रख कर बातें होती हैं और हर तरह से ऐसे अवसरों को चुनावों में भुनाने का अच्छा अवसर मान लिया जाता है। वर्षों से राग वही है। गाने वाले अपनी - अपनी स्थिति के अनुसार बदल कर गाते रहते हैं। सामान्य जन के लिए यह एक मरीचिका ही है जिसके पीछे हम कई दशकों से दौड़ रहे हैं। इन्हीं विचारों को सिद्ध करती हुई यहाँ अनेक लघु कथाएँ हमें हँसने के लिए विवश कर देती हैं। इसी बीच लेखक का एक मित्र हरिप्रकाश बहुत लम्बे समय बाद मिलने आता है और उपन्यास का कथानक उसी के साथ अपनी गति पकड़ता है। दक्षिण अफ्रीका जाने की तैयारी में आये इस मित्र की दो बातें लेखक को अधिक बेचैन कर देती हैं। एक, 'अपने शहर में तो जो लोग पहले कम्युनिस्ट थे, वे अचानक हिप्पी बन गए। अमरीकी हिप्पियों की तरह आजादी और निजी आजादी की बातें करने लग गए'। दूसरी, 'गुरुदेव की कृपा है कि जो मैंने चाहा मिल गया।' इसी बदलाव, गुरुकृपा के इसी रहस्य और इसी भ्रम से सामान्य जन को परिचित कराने का प्रयत्न है यह उपन्यास। जिस संत की कृपा से एक बुद्धू व्यक्ति भी मंत्री बन जाता है, अंगूठाछाप व्यक्ति भी बड़ा पूँजीपति बन जाता है तथा सामान्य कर्मचारी सबसे बड़ा अधिकारी

बन जाता है और गाँव का सामान्य आदमी भी विदेश चला जाता है, ऐसे चमत्कारी संत गुरु को याद करने के लिए लेखक का मन एक बार अपने शहर देहरादून की सभी गलियाँ छान मारता है लेकिन उसे कहीं कुछ याद नहीं आता जबकि उसके बचपन के कम्युनिस्ट मित्र के लिए वह संत क्राइस्ट सदृश हैं -'तुम्हें नहीं मालूम संत जी कितने भव्य हैं। मैंने क्राइस्ट का जो फोटो देखा है, उसमें जो करुणा और आत्मीयता है, वही संत महाराज के व्यक्तित्त्व में भी है। शहर के लोगों से पूछो तो ---' इन बातों के सुनते ही वर्षों से अपनी जीविका चलाने के लिए जद्दोजहद करता श्रमजीवी वर्ग लेखक की आँखों के समक्ष घूम जाता है। वह स्वयं भी तो 'सालों से ठिठका हुआ' ही है जबकि इसी समाज में उस आशीवार्दी अदृश्य शक्ति के बल पर एक बड़ा वर्ग पिछले कुछ ही वर्षों में अकूत संपत्ति और सुख के साधन एकत्र कर चुका है। उसके मित्र के अनुसार इन सब के पीछे है 'संत जी की कृपा'।

यहाँ लेखक इस बात की तरफ भी संकेत करता है कि आज के समाज में एक तरफ तो सत्य कहने को कोई तैयार नहीं है और दूसरे यदि कोई सत्य कहेगा तो असत्यवादियों का इतना बोलबाला हो गया है कि सभी मिलकर सत्य बोलने वाले को पागल घोषित कर देंगे। इस उपन्यास में लेखक ने कफ्फू नामक एक ऐसे ही पागल की सर्जना की है, जो सबके सामने सत्य कहता फिरता है। उसके सम्बन्ध में अनेक कहानियाँ लोगों ने गढ़ दी हैं। शहर के बच्चे उसके पीछे-पीछे चिढ़ाते हुए दौड़ते हैं लेकिन सभी लोग उससे बात करने में डरते भी हैं क्योंकि, वह सबकी सच्चाइयों को बिना किसी आवरण के ही सबके समक्ष कह देता है। कफ्फू के माध्यम से लेखक समाज में ईश्वर की भक्ति के नाम पर प्रचलित बलि प्रथा सहित अन्य कई धार्मिक अंधविश्वासों पर भी चोट करता है। उसके जीवन की छोटी-छोटी घटनायें या देहरादून की भाषा में कहें तो गप्प लेखक की कथात्मक प्रवृत्ति की तरफ संकेत करती हैं। जहाँ विमल जी अपनी किस्सागोई की कला के माध्यम से एक कथा के अन्दर ही दूसरी कथाओं का अपना संसार रचते चलते हैं। ये कथाएँ उपन्यास की रोचकता को बढ़ाती हैं। कफ्फू के यथार्थ का पता लगाते समय ही लेखक के साथ कुछ क्षणों के लिए सरू का जुड़ना और प्रेम की एक क्षणिक आँधी का आ जाना भी मानव जीवन की एक मरीचिका ही है, जिसे समझ कर भी आदमी स्वयं को नियंत्रित नहीं कर पाता है।

यद्यपि यह उपन्यास मात्र सवा सौ पृष्ठ का ही है लेकिन लेखक इसमें पूंजीवादियों, मार्क्सवादियों, धार्मिक ठेकेदारों, तथा बात -बात में अपने तर्कों को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए आपस में जूझते बुद्धिजीवियों, राजनेताओं, पत्रकारों, अध्यापकों और समाजसेवियों आदि सबको अपने-अपने उद्देश्यों से भटका हुआ पाता है। सबकी कथनी और करनी में ३६ का सम्बन्ध है। कौन अपनी कही हुई बात पर कितना अमल करता है, यह निश्चित करना कठिन होने लगा है। लेखक इन सबसे अत्यंत व्यथित है -'मैं जिन्दगी में इतना निराश कभी नहीं हुआ था।

थोड़े से संयम और अनुशासन की कमी कितना बड़ा बखेड़ा खडा कर सकती है, मैं पहली दफा घोर पराजित हुआ महसूस कर रहा था। जैसे अब तक जो चीज थी, वह खत्म हो गई एक आशावाद था, जिसका खात्मा हो गया था इस देश में बराबरी, समान अवसरों की प्राप्ति और निहित स्वार्थों के खात्मे के आशावाद पर बहुत बड़ा प्रहार था'। उपन्यास के अन्य पात्रों में सुरेन्द्र भाटिया, ट्रेवेल एजेंट, मिस्टर दास आदि से जुड़ी घटनाएँ हमारे भारतीय समाज की अव्यवस्थाओं, भ्रष्टाचार और धार्मिक अंधविश्वासों पर चोट करती हैं। लेखक जहाँ भी जाता है उस चमत्कारी संत के गुणगान सुनकर प्रसन्न होने लगता है और सोचने लगता है कि 'कितना अच्छा हो, शहर के सभी सताए हुए लोगों को संत का आशीष मिले। कितना अच्छा हो, उन लोगों को भी जीवन की यह सम्पन्नता मिले जो मजदूरी करते हैं, गरीबी में पिस रहे हैं' लेकिन, हमारे समाज का सच तो यही है कि ऐसे बाबाओं और पीरों का आशीष केवल और केवल उन्हीं को मिलता है, जो संत को मोटा चढावा देने के योग्य होते हैं। इन ढोंगियों ने समाज में अपना प्रचार तंत्र इतना मजबूत बना रखा है कि जो उन्हें नहीं जानता, कभी नहीं मिला, कभी देखा भी नहीं, वह भी उनके गुणगान करता रहता है। वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के अंधविश्वासों का बोलबाला एक प्रकार की विडंबना ही कही जायेगी कि एक तरफ हम अपने नित नए निर्मित होते वैज्ञानिक संसाधनों और इन्टरनेट के बल पर दुनिया को मुट्ठी में कर लेने के दावे कर रहे हैं तो दूसरी तरफ तांत्रिकों की मदद से विकास के शॉर्टकट रास्ते तलाश रहे हैं। विमल जी के मन में इस वृत्ति के विरुद्ध तीव्र आक्रोश भरा हुआ है। सच्चाई भी है कि यदि संसार का सब काम इन संतों और तांत्रिकों के आशीर्वाद से ही संभव है तो दुनिया विज्ञान के पीछे इतना इतना खर्च क्यों कर रही है? ये संत अपने आशीर्वाद से दुनिया की गरीबी दूर क्यों नहीं कर देते? इसलिए इस उपन्यास के एक प्रसंग में वे एक जगह लिखते हैं कि - 'मेरा निर्णय पक्का हो गया मैं अपने शहर जाऊँगा। मैं उस संत से मिलूंगा। मैं अपने सोचे, प्राप्त किये वैज्ञानिक विश्वासों को ताक पर रख मैं जाऊँगा और अपने को गरीबी और हताशा के नायकत्व से छुटकारा दिलवाऊंगा'।

लेखक का मित्र संत के आशीर्वाद से दक्षिण अफ्रीका चला जाता है। लेखक भी उस संत को ढूंढते हुए अपने शहर देहरादून जाता है। वह संत तो वहाँ उसे कहीं नहीं मिलता है लेकिन दक्षिण अफ्रिका पहुँचे मित्र के एक लम्बे पत्र के माध्यम से लेखक न केवल इस प्रकार के संतों बल्कि ईश्वर की सत्ता पर भी गंभीर चोट करता है। उसे लगता है कि इस दुनिया में मेहनत का कोई विकल्प नहीं बन सकता है। ये ईश्वर और संत जैसे रहस्य सामान्य आदमी की 'सबसे कमजोर नस हैं'। 'हमारी सांस्कृतिक धाराओं के ठीक बीचोबीच झूठी श्रद्धा के नाम पर यह जो धारा बही है - उसने हमें आज भी पतन की ओर झोंका है'। यहाँ लेखक उन हिन्दुस्तानियों की भी पूँछ मरोड़ता है, जो अपने देश में शारीरिक श्रम वाला कोई काम करने से हिचकिचाते हैं, जाति-वर्ग

और न जाने किस-किस प्रकार की बातें उन्हें मेहनत करने से यहाँ रोकती हैं लेकिन विदेशों में जाकर मजदूरी करने- पत्थर कूटने में भी कोई संकोच नहीं होता बल्कि बेटे के विदेश जाने के नाम पर अपने समाज में उस परिवार की इज्जत बढ़ जाती है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि गंगा प्रसाद विमल जी की अंतिम रचना 'मरीचिका' इस वैज्ञानिक युग में बढ़ते धार्मिक अंधविश्वासों पर करारी चोट करती है। हमारे नगरों - महानगरों में रेलगाड़ियों, बसों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जिस प्रकार इन तांत्रिकों द्वारा पलक झपकते हर समस्या का समाधान प्रस्तुत करने वाले पोस्टर चिपके देखे जा रहे हैं और पिछले कुछ वर्षों से हमारे समक्ष ऐसे बाबाओं के कारनामे जिस प्रकार उजागर हो रहे हैं, उसे देखकर तो यही लगता है कि आगे आने वाले कुछ दशकों में इन्हीं आशीर्वादियों का साम्राज्य हो जाएगा और समाज के अधिकांश लोग इन्हीं के अंधभक्त बनकर गुरु गुणगान करते विकास की कल्पना में डूबे मिलेंगे। निश्चित ही यह उपन्यास समाज को इस प्रकार की मानसिकता से उबारने काऔर ऐसी मरीचिका के यथार्थ से रूबरू कराते हुए हमें सतर्क करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

उपन्यास की भाषा भी पूर्णतः सरल, सुबोध और कथावस्तु की तरह ही समतल पर बहते नीर सदृश निर्बाध आगे बढ़ती है। अपने शब्दों के जादू से लेखक अनेक दृश्य-चित्र अवश्य उपस्थित कर देता है। पूरी कथा लगभग दो शिक्षित मित्रों के बीच चलती है। बीच-बीच में किसी घटना को आग बढ़ाने के लिए अन्य पात्र बहुत कम समय के लिए ही जुड़ते हैं। इसलिए पूरे उपन्यास में लगभग एक ही तरह के शब्द, वाक्य और तर्क-वितर्क आदि का प्रयोग मिलता है। निश्चित ही यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण और पठनीय है। इसे वर्तमान समाज पर प्रयोगशील और प्रगतिधर्मी विमल जी की बेबाक टिप्पणी भी कहा जा सकता है।

विजिटिंग प्रोफेसर

तोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ फॉरेन स्टडीज, तोक्यो, जापान

मृगांतक / टाइगर तंत्रा : पशुता और मनुष्यता के बीच की छटपटाहट

- डॉ. मनीष कुमार मिश्रा

गंगा प्रसाद विमल का जन्म 03 जुलाई 1939 को उत्तरकाशी (उत्तराखंड) में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा उत्तरकाशी में ही उन्होने पूरी की। फिर पंजाब विश्वविद्यालय समेत कई भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा आपने अपनी उच्च शिक्षा पूर्ण की। इनकी शिक्षा गढ़वाल, हृषिकेश, इलाहाबाद, यमुनानगर एवं पंजाब विश्वविद्यालय जैसी अनेक जगहों पर हुई। आप शुरू से ही एक प्रतिभावान विद्यार्थी थे। रचनात्मक मनोवृत्ति होने के कारण इनके व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास तमाम साहित्यिक क्षेत्रों में हुआ। सन 1963 में 'समर स्कूल ऑफ लिंगुइस्टिक्स', उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद में आप अध्ययनरत रहे। सन 1965 में डॉक्टर ऑफ फिलॉसॉफी/ पीएच.डी. की उपाधि आप ने प्राप्त की। इसी वर्ष आप का विवाह 05 फरवरी 1965 को कमलेश अनामिका के साथ संपन्न हुआ, जिनसे आप को दो सन्तानें आशीष (1969) और कनुप्रिया (1975) हुईं।

विमल जी ने उपन्यास, निबंध, कविता, नाटक, अनुवाद समेत कई विधाओं में लेखन कार्य किया। आप के जो कविता संग्रह प्रकाशित हैं उनमें बोधि-वृक्ष, नो सूनर, इतना कुछ, सन्नाटे से मुठभेड़, मैं वहाँ हूँ, अलिखित-अदिखत, कुछ तो है प्रमुख हैं। कोई शुरूआत, अतीत में कुछ, इधर-उधर, बाहर न भीतर और खोई हुई थाती आप के प्रकाशित कहानी संग्रह हैं। अपने से अलग, कहीं कुछ और, मरीचिका, मृगांतक, मानुषखोर आप के प्रकाशित उपन्यास हैं। 'आज नहीं कल' शीर्षक से आप का एक नाटक भी प्रकाशित हो चुका है। आप के आलोचनात्मक ग्रंथों में प्रेमचंद, समकालीन कहानी का रचना विधान, आधुनिकता : साहित्य का संदर्भ इत्यादि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त आप के संपादन में कई पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जैसे कि अभिव्यक्ति, गजानन माधव मुक्तिबोध का रचना संसार, अज्ञेय का रचना संसार, लावा (अंग्रेजी), आधुनिक कहानी, सर्वहारा के समूह गान, नागरी लिपि की वैज्ञानिकता, वाक्य विचार इत्यादि। आप के द्वारा अनुदित पुस्तकों में इतनो किछू, लिव्ज वेयर एंड अदर पोएम्स प्रमुख हैं।

गंगाप्रसाद विमल अपने दो परिजनों के साथ दक्षिण श्रीलंका में दिनांक 23 दिसंबर 2019 को एक सड़क दुर्घटना का शिकार हुए। इस दुर्घटना में 80 वर्षीय विमल जी का निधन हो गया। इस सड़क हादसे में विमल के साथ उनकी पुत्री कनुप्रिया और नाती श्रेयस का भी निधन हो गया। दुर्घटना के समय वे मटारा से कोलंबो की यात्रा कर रहे थे। बाद में जो जानकारी श्रीलंका पुलिस के द्वारा

आधिकारिक तौर पर मिली, उसके अनुसार विमल जी की गाड़ी के ड्राइवर को गाड़ी चलाते समय नींद आ गई थी, जिससे उनका वाहन एक लॉरी से टकरा गया। एक श्रेष्ठ साहित्यकार इस तरह हमारे बीच से चला गया। लेकिन अपने अमूल्य साहित्य के माध्यम से विमल जी हमेशा हमारी स्मृतियों में रहेंगे।

हिन्दी उपन्यासों की समीक्षा दृष्टि को लेकर एक भारी असंतोष अक्सर कथाकारों के अंदर देखा गया है। अमरकांत जैसे उपन्यासकार यह मानते हैं कि हिन्दी उपन्यासों की समीक्षा या आलोचना दृष्टि उस तरह से विकसित नहीं हुई, जिस तरह उसे होना चाहिए था। इस बारे में समय समय पर विद्वान अपनी बात रखते ही रहे हैं। विजय मोहन सिंह का एक लेख 'उपन्यास में विचार' नामक शीर्षक से 'नया ज्ञानोदय' के नवम्बर 2006 के अंक में छपा। वे इसी संदर्भ में अपनी बात रखते हुए लिखते हैं कि 'यह नहीं भूलना चाहिए कि उपन्यास अंततः और मूलतः एक रचनात्मक विधा है और उसमें 'विचार' प्रसंग के अनुरोध से आते हैं, और चूंकि उसमें अक्सर कई प्रकार के चरित्रों को आमने-सामने रखा जाता है जिससे एक वैचारिक द्वंद्व और ऊर्जा उत्पन्न होती है, उसका इस्तेमाल अपने लिए पक्ष या प्रतिपक्ष बनाने के लिए नहीं करना चाहिए। हाँ यदि उपन्यासकार ने किसी चरित्र विशेष को अपना प्रवक्ता बनाने के लिए प्रस्तुत किया है तो उससे लेखक के जीवन वर्णन या जीवन के प्रति उसके रुख का पता जरूर चलता है। लेकिन फिर भी उपन्यास की रचनात्मकता उससे असम्पृक्त ही रहती है।...' लेकिन विमल जी जैसे उपन्यासकार मृगान्तक जैसे उपन्यास के माध्यम से चरित्र और परिवेश के बीच ऐसा ताना-बाना बुनते हैं कि वहाँ कलात्मक कृतिमता दिखाई ही नहीं पड़ती। यह इस उपन्यास की एक महत्वपूर्ण खूबी मानी जा सकती है।

हम जानते हैं कि साठ के दशक के बाद सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्तर पर भारतीय समाज बहुत बदल रहा था। सरकारी योजनाएँ विफल हो रहीं थीं। चीन के साथ युद्ध में मिली पराजय से मोह भंग जैसी स्थितियाँ सामने थीं। हताशा, निराशा और कुंठा के बीच प्रदर्शन एवं आत्मप्रवंचन का जीवन मध्यम एवं निम्न मध्यम वर्गीय जीवन की सच्चाई थी। समाज की इसी मनोदशा को अपने उपन्यासों के माध्यम से प्रस्तुत करने वाले लोगों में मोहन राकेश, राज कमल चौधरी, महेंद्र भल्ला, उषा प्रियंवद, रमेश बक्षी और गंगाप्रसाद विमल प्रमुख रहे। इस बीच विमल जी के चार उपन्यास प्रकाशित हुए। मृगांतक सन 1978 में प्रकाशित हुआ। एक शोधार्थी के वृतांत को उपन्यास के कथानक के रूप में बड़ी ही रोचकता के साथ विमल जी ने प्रस्तुत किया है। लगातार सभ्य होता हुआ मनुष्य अपनी पशुता से छुटकारा नहीं ले पा रहा है। अशिक्षा, गरीबी, धर्मांधता और तंत्र मंत्र इत्यादि किस तरह उसके मार्ग में बाधक बने हुए हैं, इसे इस उपन्यास के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है।

टाइगर तंत्रा सन 1978 में प्रकाशित आप के हिंदी उपन्यास मृगांतक का अंग्रेजी संस्करण है जो वर्ष 2010 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास पर आधारित एक फिल्म 'Bokshu The Myth'

काफी चर्चित रही। यह फिल्म वर्ष 2002 में रिलीज हुई थी। यह उपन्यास उस भारतीय तंत्र परंपरा के विश्वास की पड़ताल है जिसके अनुसार तंत्र साधना से व्यक्ति जानवर का रूप ले सकता है। ऐसे व्यक्ति / साधक को ही 'बोक्षु' कहा जाता है। इस संदर्भ में लेखक ने एक अंग्रेज -मैकटॉफ का भी जिक्र किया है। इस अंग्रेज को अजब सनक थी, वह पूर्वीय क्षितिज के तमाम रहस्यों को समझना चाहता था। लेकिन बाद में हिमालय की घाटियों और पर्वत शृंखलाओं के बीच यह अंग्रेज जाने कहाँ खो जाता है।

बोक्षु विद्या से संबंधित कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ लेखक को इन्हीं मैकटॉफ साहब के ग्रंथों में मिलती हैं और वे इससे प्रभावित भी होते हैं। एक और नाम का जिक्र लेखक करते हैं - डेविड चेम्बरलिन का। इन दोनों अंग्रेज खोजी विद्वानों के माध्यम से लेखक यह जान पाता है कि बोक्षु विद्या का अस्तित्व है तथा इससे जुड़ी हुई कोई मूल पांडुलिपि भी है जो खोजी जानी बाकी है। अपने तमाम अध्ययन,अनुमान और अनुसंधान के आधार पर लेखक इस नतीजे पर पहुँचता है कि 'जलेड' नामक तीर्थस्थान / मंदिर में ऐसी कोई पाण्डुलिपि जरूर मिलेगी। लेकिन इस 'जलेड' नामक स्थान का पता लगाना बहुत बड़ी चुनौती थी। लेकिन अपनी साहसिक यात्राओं के द्वारा लेखक इस स्थान का पता लगाने में कामयाब हो जाता है।

बोक्षु विद्या के संदर्भ में इस उपन्यास के माध्यम से लेखक बताते हैं कि यह एक ऐसी कला है जिसके माध्यम से साधक व्यक्ति बोक्षु अर्थात बाघ का रूप धारण कर सकता है। वैसे तो यह बहुत रहस्यपूर्ण साधना है, लेकिन ऐसा माना जाता है कि तंत्र-मंत्र की दुनिया में यह सबसे सरल साधना है जिसे मनुष्य थोड़े ही समय में सिद्ध कर सकता है। महत्वपूर्ण यह नहीं कि इस साधना द्वारा व्यक्ति रूप बदल सकता है अपितु इससे वह अमरत्व को भी प्राप्त कर सकता है। बोक्षु साधना के बाद एक वर्ष तक साधक को कोई रोग, आघात, या कोई भी वस्तु नहीं मार सकती। इस तरह एक अल्प से समय की साधना के बाद साधक अपनी उम्र में एक नया वर्ष जोड़ सकता है जो कि अमरत्व से भरा होगा। अमरत्व की इसी लालसा में देश विदेश के कई लोग हिमालय की तराइयों, कामरूप, भास्कर पीठ, नेपाल, ज्ञान लोक और तिब्बत की यात्राओं, लामा बाबा, तांत्रिकों, प्राचीन पुस्तकालयों इत्यादि की खाक छानते रहे।

इन्हीं यात्राओं के आकर्षण में लेखक भी पड़ता है। वह भी इस तांत्रिक विद्या को जानना चाहता है। इसके लिए वह हर खतरा उठाने के लिए तैयार हो जाता है। स्वामी विशुद्धानंद, कविराज गोपीनाथ, कुसुंपति, नारकंडा, लामा बाबा, श्रीमान सूद, कीर्तिबाई इत्यादि के माध्यम से होते हुए लेखक मनि राम तक पहुँचता है। वही मनि राम जिसका अपना गाँव है - जलेड । पहाड़ी रास्ता बंद होने पर मनि राम के साथ लेखक पैदल दूरांत, निर्जन घाटियों, जंगलों के रास्ते अपनी मंजिल तक पहुँचने का रोचक वर्णन करते हैं। उस गाँव में पहुँचकर रहस्य से भरे खंडहर और मंदिर का रोमांचकारी वर्णन है। यहीं तांत्रिक सर्वदानंद भी मिलते हैं जिनकी साधना खुद एक रहस्य है। उनकी

सेविका रिखली देई लेखक और मनि राम के भोजन इत्यादि का प्रबंध करती है। मंदिर के पुस्तकों और लिपियों को देखकर लेखक को कई रोचक जानकारी मिलती है। जैसे कि बोक्षु विद्या जिस भी लिपि में अंकित है- उसके अक्षर कोई भी व्यक्ति, चाहे उसकी अपनी भाषा कोई भी हो, पढ़ सकता है। अर्थात् वह एक ऐसी लिपि है जिसे विश्व लिपि माना जा सकता है।

जलेड के मंदिर और आस-पास का वातावरण एकदम रहस्यमय है। यहाँ पहुँच कर एक बार लेखक को आशंका होती है कि क्या वो उसी जगह हैं, जिसकी उन्हें इतने दिनों से तलाश थी? वहाँ एक अजीब सी वीरानी छायी रहती थी। मंदिर के बाहर एक रजिस्टर है जिसमें सैकड़ों लोगों का नाम दर्ज है। ये उन आगंतुकों के नाम हैं जो कभी इस मंदिर में आये हुए हैं। कई विदेशियों के नाम भी हैं। कई अघोरी तांत्रिक भी खास अवसरों पर पूजा पाठ और तंत्र साधना के लिये आते रहते हैं। मंदिर में लकड़ी की कई बड़ी - बड़ी संदूकें हैं जिनमें कई प्राचीन ग्रंथ रखे हुए हैं। अधिकांश ग्रंथ चोरी भी हो चुके हैं।

अपने खोज बीन के दौरान लेखक को उन लोगों के नाम भी पता चलते हैं जो मंदिर की सामग्री चुराने के लिये जिम्मेदार थे। इन्हीं सब कारणों से ग्राम पंचायत ने यह नियम बना लिया था कि जिस किसी भी आगंतुक को मंदिर की वस्तुओं को देखना होगा, उसे पहले लिखित रूप में अनुमति लेनी होगी। लेखक अनुमति के लिये नियमानुसार अपनी अर्जी तो लगा देता है लेकिन कई तरह की आशंकाओं से भर जाता है। उसे लगता है कि उसे जो चाहिये वह संभवतः यहाँ ना मिले। वह तराई की तरफ ढलान के खंडहर भी इस उम्मीद में हो आता है कि शायद वहाँ कुछ मिल जाये। लेकिन मनि राम उसे ऐसा दुबारा ना करने की बात करता है। गाँव के नियमानुसार उस खंडहर में भी बिना अनुमति कुछ खोजना या खुदाई जैसा कार्य नहीं किया जा सकता था। अतः लेखक उसकी अनुमति हेतु भी प्रक्रिया पूरी करता है। इन पाबंदियों के लिये शायद बहुत देर हो चुकी होती है, लेकिन लेखक उम्मीद नहीं छोड़ता। तमाम आशंकाओं के बीच भी उसे लगता है कि शायद उसका काम हो जाये।

खोज बीन की जटिलताओं और परेशानियों के बीच लेखक को सर्वदानंद का व्यवहार भी बहुत विचित्र और असहज लगता है। यद्यपि सर्वदानंद उनकी पूरी मदद करता है और स्थानीय लोगों से भी लेखक की सहायता करने को कहता है। जाने-अनजाने खतरों से भी वह लेखक को आगाह करते रहता है। नाग-गंगा की बाढ़ और उससे इलाके के जन जीवन पर होने वाले प्रभाव से सर्वदानंद लेखक को अवगत कराता है। वह बताता है कि जलेड ओझा लोगों का गाँव था जिन्होंने देवी माँ को नाराज कर दिया था। परिणाम स्वरूप उन सब को यह स्थान छोड़कर भागना पड़ा। लेकिन बीच-बीच में वे लोग माँ के दर्शन और अपने पूर्वजों द्वारा हुए अपराधों की क्षमा याचना हेतु आते रहते हैं। लेखक के साथ आया हुआ मनि राम ऐसे ही लोगों में से एक है। वे यहाँ आ तो सकते हैं लेकिन स्थायी रूप से बस नहीं सकते। ऐसी ही कई अन्य बातों से लेखक तांत्रिक सर्वदानंद के माध्यम से अवगत होता है। रात को जंगली जानवरों, विशेष रूप से बाघ के हमले से सावधान रहने की बात

इन सब में सबसे महत्वपूर्ण थी।

सर्वदानंद किस उद्देश्य से इतनी कड़क तंत्र साधना कर रहा है, यह बात लेखक को आशंकित किये हुए थी। यहाँ तक कि रिखली देई को भी इस संदर्भ में कुछ पता नहीं था। सर्वदानंद रात को अकेले नदी किनारे साधना करने जाता है और मध्य रात्रि के बाद लौटता। कई बार तो वह पूरी तरह नग्न अवस्था में घर आता। लेखक को यह आशंका होने लगी कि कहीं सर्वदानंद ही तो बोक्षु नहीं? रिखली देई आत्मानंद से प्रेम करती थी, लेकिन उनकी सामाजिक परंपरा के अनुसार सर्वदानंद अधिक मूल्य देकर उसे अपनी साधना में सहायता हेतु खरीद लेता है। गरीब आत्मानंद कुछ नहीं कर पाता। लेकिन रात में जब बोक्षु आत्मानंद को बुरी तरह घायल कर देता है तो रिखली देई दुख से भर जाती है। उसे भी यह आशंका होने लगती है कि यह सब सर्वदानंद ने ही किया होगा। हो सकता है वही बोक्षु हो या बोक्षु होने की ही तांत्रिक साधना में लगा हो।

अतः जब मनि राम और सर्वदानंद आत्माराम को लेकर डॉक्टर के पास जाने के लिये निकलते हैं तो वह लेखक के साथ एक अप्रत्याशित व्यवहार करती है। वह सर्वदानंद से इसका बदला लेने के लिए लेखक के साथ उस रात हम बिस्तर होती है। उसका यह व्यवहार आत्माराम के प्रति उसके प्रेम को अभिव्यक्त करता है। वह ऐसा इसलिए करती है ताकि सर्वदानंद की साधना भ्रष्ट कर सके। उपन्यास में लेखक ने रिजिया शाह जैसे लोगों का भी वर्णन किया है जो बड़ी चालाकी से मंदिर से जुड़ी किताबों एवं कीमती पुरानी वस्तुओं का सौदा करते हैं। लेखक जब उनसे मिलने जाता है तो शाह बड़ी चालाकी से उनसे भी सौदेबाजी करने की कोशिश करता है। गाँव के गरीब और लाचार लोगों को शाह अपने शोषण के चक्र में फँसाये रखता है। ऐसे लालची लोगों की वजह से ही मंदिर की बहुत सी अमूल्य वस्तुएं चोरी हो गई थीं। आश्चर्य की बात यह कि ऐसे लोगों पर माँ का श्राप नहीं लगा था। वे वहीं रहते हुए अपने शोषण और दमन के चक्र को बड़ी चालाकी से संचालित कर रहे थे।

एक रोचक प्रसंग नक्छेदा की माँ से मिलने का भी है जो एक ही घटना के घटित होने के पीछे कई संभावनाओं के होने से इंकार नहीं करती। अपने दादा के बोक्षु होने और अपनी ही बेटी को मारने के संदर्भ में वह कई संभावनाओं की चर्चा करती है। वह एक तरफ उन्हें भीरु बताती है तो दूसरी तरफ यह तर्क भी रखती है कि कोई बाप कितना भी कायर क्यों न हो, लेकिन वह अपनी बेटी को अपनी आखों के सामने मरने के लिये कैसे छोड़ सकता है? फिर यह भी कि हो सकता है अपनी कायरता को छिपाने के लिये ही उन्होने बोक्षु वाली बात लोगों के बीच उड़ाई हो। अपनी तमाम बातों के बीच वह बूढ़ी औरत मानो लेखक को यह बताना चाहती हो कि कुछ होने न होने के बीच में संभावनाओं का एक अनंत आकाश होता है। जहां तर्क, व्यवहार और सुविधा के आधार पर कई किस्से समय के मेले का हिस्सा होते हैं। ऐसे में किसी एक सत्य की तलाश शायद न हो सके लेकिन वांछित सत्य को अधिक पुष्ट अवश्य किया जा सकता है। बड़े ही सामान्य तरीके से वह महिला

लेखक को गहरी दर्शनिकता में उलझा रही थी।

अपनी तमाम खोज बीन के बाद लेखक उस 'जलेड' से लौटने का मन बना लेता है। यह मानते हुए कि वह जगह पहाड़ों और अतीत की एक जेल है जहां संभवतः वह दुबारा कभी लौटना ना चाहे। इस तरह इस उपन्यास के माध्यम से लेखक यह बताने की कोशिश करता है कि मनुष्य अपने अंदर के जानवर को जगाकर कोई अमरत्व प्राप्त कर पाता है या नहीं इस पर विवाद हो सकता है लेकिन उसकी लालसा उसे इस तरफ ढकेलती जरूर है। इस गल्प के माध्यम से लेखक मानवीय स्वभाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का भी प्रयास कई संदर्भों के माध्यम से करते हैं। जीवन की जटिलताओं में लालसा, व्यवहार और मनोवृत्ति के ताने-बाने को समझने के एक प्रयास के रूप में भी इस उपन्यास को देखा जा सकता है। यह उपन्यास रचनात्मक कौशल के साथ-साथ अर्थ और विवेचना के कई आयाम भी प्रस्तुत करता है।

हिन्दी व्याख्याता

के.एम.अग्रवाल महाविद्यालय

कल्याण-पश्चिम, महाराष्ट्र

संदर्भ :

1. https://www.hindisamay.com

2. https://www.livehindustan.com/national/story-famous-litterateur-ganga-prasad-vimal-died-in-a-road-accident-2921328.html

3. https://samalochan.blogspot.com/2019/12/blog-post_26.html

4. https://www.dainiktribuneonline.com/news/archive/

5. http://www.argalaa.org/issue.php?issue=july 2009 & category =Anusrijan&author = Ganga%20 Prasad%20Vimal

6 . http://shodhganga.inflibnet.ac.in:8080/jspui/bitstream/10603/68196/8/08_chapter%203.pdf

7. https://www.kafaltree.com/obituary-to-gangaprasad-vimal/

8. TigerTantra–GangaPrasadVimal,GlobalVisionPress,NewDelhi 2010

आगामी विशेषांक

शोध / मीमांसा विशेषांक जनवरी-मार्च 2021

अप्रैल-जून 2021

***शैलेश मटियानी की* रचनाओं पर केन्द्रित**

जुलाई-दिसंबर 2021

प्रेम रंजन अनिमेष की रचनाओं पर केन्द्रित

Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222

With best compliments from :

With best wishes from :

CREATIVE EYE LTD.

CORPORATE OFFICE : 'KAILASH PLAZA' PLOT NO. 12-A, NEW LINK ROAD.
OPP. LAXMI IND. EST. ANDHERI (W), MUMBAI-400 053.
Tel. : 26732612-15 • Fax26315024
E-mail : dk@creativeeye.vsnl.netin • visit our Website : www.creativeeye.com